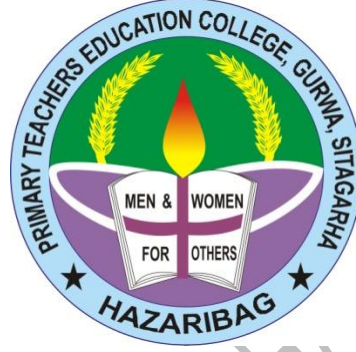


प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण  
का  
द्विवर्षीय पाठ्यक्रम आधारित नोट्स



**Year : 1st**

**Paper : II**

**Subject : Psychology**

**Compiled & Edited by : Sr. Alice Ekka**

**PRIMARY TEACHERS EDUCATION COLLEGE**

Gurwa, P. O.- Sitagarha, Dist. – Hazaribag -825 303, Jharkhand, INDIA

(A Jesuit Christian Minority Institution)

Recognized by ERC, NCTE vide order No. BR-E/E- 2/96/2799(12) dt 11.02.1997

Phone No. 06546-222455, Email: [ptecgurwa1997@rediffmail.com](mailto:ptecgurwa1997@rediffmail.com) Website: [www.ptecgurwa.org](http://www.ptecgurwa.org)

# अनुक्रमणिका

## प्रथम वर्ष

### शिक्षा मनोविज्ञान

#### इकाई 3 – बालक का अभिवृद्धि एवं विकास

- अभिवृद्धि एवं विकास का अर्थ, परिभाषा
- विशेषताएँ
- अभिवृद्धि एवं विकास का सिद्धांत
- अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर
- अभिवृद्धि एवं विकास को प्रभावित करने वाले कारक
- विकास की प्रमुख अवस्थाएँ
  - i. शैशवावस्था – 0–5 वर्ष
  - ii. बाल्यावस्था – 6–12 वर्ष
  - iii. किशोरावस्था – 13–18 वर्ष
- बालक में शारीरिक विकास
  - i. शैशवावस्था में शारीरिक विकास
  - ii. बाल्यावस्था में शारीरिक विकास
  - iii. किशोरावस्था में शारीरिक विकास
  - iv. शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
- बालक में संवेगात्मक विकास
  - i. शैशवावस्था में संवेगात्मक विकास
  - ii. बाल्यावस्था में संवेगात्मक विकास
  - iii. किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास
  - iv. संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक
- विकास की विभिन्न अवस्थाएँ  
(अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ एवं शिक्षा का स्वरूप)
  - i. शैशवावस्था 0–5 वर्ष (बालक का आदर्श काल)
  - ii. बाल्यावस्था 6–12 वर्ष (बालक का अनोखा काल)
  - iii. किशोरावस्था 13–18 वर्ष (जीवन का कठिन काल)

# इकाई — 3

---

## बालक का अभिवृद्धि एवं विकास

---

# अभिवृद्धि एवं विकास (Growth and Development)

## अभिवृद्धि

प्रत्येक व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक परिपेक्ष्य (वातावरण) में पल-पल बदलाव आता है। यानि जन्म के समय वह शिशु कहलाता है और कुछ समय के बाद बालक, फिर किशोर, व्यस्क, प्रौढ़ एवं वृद्ध कहलाता है। व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में परिवर्तन को अभिवृद्धि एवं विकास के नाम से जाना जाता है।

विकास एक बहुमुखी प्रक्रिया है। इसमें बहुत सी बातों का समावेश होता है। शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन में बालक का केवल बौद्धिक पक्ष ही नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक अवस्थाएँ महत्वपूर्ण हैं। विकास के ये सभी पक्ष परस्पर संबंधित हैं। क्योंकि अभिवृद्धि एवं विकास की इस क्रिया का शिक्षा से गहन संबंध है। तथा शिक्षा मनोविज्ञान का प्रमुख उद्देश्य भी शिक्षा की प्रक्रिया में गुणात्मक सुधार लाना, नवीन वैज्ञानिक शिक्षण विधियों का निर्माण करना जिससे बालक के व्यक्तित्व का समग्र विकास हो सके।

अतः शिक्षा मनोविज्ञान के अंतर्गत मानव अभिवृद्धि एवं विकास का अध्ययन किया जाता है। एक कुशल शिक्षक को बालक के अभिवृद्धि के साथ-साथ उसमें होने वाले विभिन्न प्रकार के विकास एवं उनकी विशेषताओं की समयक जानकारी होनी चाहिए ताकि वह शिक्षार्थियों को विकास के पथ पर प्रशस्त (आगे बढ़ाने वाली) करने वाली व्यूहरचना का समुचित रूप से निर्धारण कर सके।

## अर्थ एवं परिभाषा

**अर्थ:-** अभिवृद्धि का सामान्य अर्थ होता है आगे बढ़ना। बालक की अभिवृद्धि के संदर्भ में उसके शरीर के आंतरिक एवं बाह्य अंगों के आकार, भार और इनकी कार्य क्षमता में होने वाली वृद्धि के रूप में देखा जाता है।

मानव शरीर में यह अभिवृद्धि एक निश्चित आयु तक (18-20) वर्ष में ही होती है। उसके बाद इन अंगों में वृद्धि नहीं होती है।

अतः शरीर के अंगों के आकार एवं भार में बढ़ोतरी को 'वृद्धि' या 'अभिवृद्धि' कहा जाता है । इस वृद्धि का देखा-परखा जा सकता है और इसका मापन भी किया जा सकता है । अतः वृद्धि व्यक्ति के शरीर से संबंधित होती है ।

### परिभाषाएँ

फ्रेंकः— “ अभिवृद्धि से तात्पर्य कोशिकाओं में होने वाली वृद्धि से होता है जैसे— लम्बाई और भार में वृद्धि ।”

हरलॉकः— “ विकास अभिवृद्धि तक सीमित नहीं है । इसके बजाय परिपक्वास्था के लक्ष्य की ओर परिवर्तनों का प्रगतिशील क्रम निहित रहता है ।”

### विकास

अर्थः— मनोविज्ञान के क्षेत्र में विकास का अर्थ केवल अभिवृद्धि अर्थात् शारीरिक आकार अंगों में परिवर्तन होना ही नहीं बल्कि विकास का अर्थ व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में आयु के साथ आये परिवर्तन से है यानि व्यक्ति में नयी-नयी विशेषताओं और क्षमताओं का विकसित होना है ।

अतः विकास स्वतः लगातार होती रहती है और लगातार अभिवृद्धि का परिणाम ही विकास है ।

### परिभाषाएँ

स्कीनर के अनुसार, — “विकास एक क्रमिक और मंद गति से चलने वाली प्रक्रिया है ।”

फ्रेंक के अनुसार, — “ अभिवृद्धि से तात्पर्य कोशिकाओं में होने वाली वृद्धि से होता है । जैसे— लम्बाई एवं भार में वृद्धि । जबकि विकास से तात्पर्य प्राणी में होनेवाली सम्पूर्ण परिवर्तन से होता है ।”

अभिवृद्धि की तरह विकास में व्यवस्था नहीं होती है । यह तो निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है । अभिवृद्धि मात्रात्मक होती है । वहीं विकास मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों होती है । अतः व्यक्तित्व में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि को विकास कहा जाता है ।

### अभिवृद्धि एवं विकास में अंतर

अभिवृद्धि एवं विकास में निम्नलिखित अंतर हैं:—

1. अभिवृद्धि से तात्पर्य मनुष्य के आकार, बनावट, शारीरिक एवं व्यावहारिक परिवर्तनों से है । जबकि विकास से आशय शरीर विभिन्न शारीरिक, मानसिक तथा व्यावसायिक संगठन से है ।
2. अभिवृद्धि का संबंध शारीरिक तथा मानसिक परिपक्वता से है, जबकि विकास वातावरण से संबंधित होता है ।
3. अभिवृद्धि सीमित होती है तथा परिपक्वता के स्तर तक होती है । जबकि विकास की कोई सीमा नहीं होती है । यह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक चलती रहती है ।
4. अभिवृद्धि निश्चित आयु के पश्चात रूक जाती है, जबकि विकास जीवन पर्यन्त तक चलता रहता है ।
5. अभिवृद्धि का मापन सही है । जैसे— शरीर की लम्बाई व वजन की वृद्धि को मापा जा सकता है । जबकि विकास के परिवर्तनों को होते हुए देखा जा सकता है जैसे— आन्तरिक परिवर्तनों एवं योग्यताओं को केवल अवलोकित किया जा सकता है, मापा नहीं जा सकता है ।
6. अभिवृद्धि में व्यक्तिगत भेद होते हैं । प्रत्येक बालक की वृद्धि समान नहीं होती है । जबकि विकास में समानता पायी जाती है । किन्तु इसकी दर, सीमा आदि में अवश्य अंतर होता है ।
7. अभिवृद्धि का अर्थ संकुचित है यह विकास के अवयवों में से ही एक है जबकि विकास का अर्थ व्यापक है । शारीरिक विकास के साथ-साथ बौद्धिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक विकास भी होता है ।

8. अभिवृद्धि केवल मात्रात्मक होती है । जबकि विकास मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार का होता है ।
  9. अभिवृद्धि क्रमिक एवं श्रृंखलाबद्ध 'रूप' से होती है । जबकि विकास का कोई क्रम निश्चित नहीं होता है ।
  10. अभिवृद्धि विकास को प्रभावित करती है। जबकि विकास अभिवृद्धि से बहुत कम ही प्रभावित होता है ।
  11. अभिवृद्धि प्रायः स्थूल रूप से दृष्टिगत होती है । जबकि विकास दृश्य तथा अदृश्य दोनों रूपों में होता है ।
  12. अभिवृद्धि केवल अनुवांशिक प्रभाव के कारण होती है । जबकि विकास पर अनुवांशिकता के साथ-साथ वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है ।
- उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विकास अभिवृद्धि से कहीं अधिक व्यापक है तथा अभिवृद्धि विकास का ही एक अंग है ।

### अभिवृद्धि व विकास के सिद्धान्त

मानव का विकास निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है । मनोवैज्ञानिकों ने इसका गहन अध्ययन कर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं । **गैरिसन एवं अन्य ने लिखा है** – जब बालक विकास की एक अवस्था दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब हम कुछ परिवर्तन देखते हैं। अध्ययनकर्त्ताओं ने सिद्ध कर दिया है ये परिवर्तन निश्चित सिद्धांतों के अनुसार होते हैं । इन्हीं को विकास का सिद्धांत कहा जाता है ।

अभिवृद्धि व विकास के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धांत हैं:-

1. **सतत् या निरन्तर विकास का सिद्धांत:-** इस सिद्धांत के अनुसार विकास की प्रक्रिया अविराम गति से निरन्तर चलती रहती है पर यह गति कभी तीव्र और कभी मंद होती है ।

उदाहरण- प्रथम तीन वर्षों में बालक के विकास की प्रक्रिया बहुत तीव्र रहती है । उसके बाद मंद पड़ जाती है । इसी प्रकार शरीर के कुछ भागों का विकास

तीव्र गति से और कुछ का मंद गति से होता है । अतः यह सिद्धांत मानव विकास का सबसे प्रमुख सिद्धांत है ।

**2. विकास क्रम का सिद्धांत:-** इस सिद्धांत के अंतर्गत बालक का विकास एक निश्चित क्रम से होता है । मनोवैज्ञानिकों ने भी अपने प्रयोगों से स्पष्ट किया है कि मानव विकास में एक क्रमबद्धता होती है । बालक पहले सुनता है, फिर बोलता है । वह पहले सिर को नियंत्रित करना सीखता है, बाद में हाथ को नियंत्रित करना सीखता है । इसी प्रकार मानसिक, सामाजिक, नैतिक आदि के विकास में भी क्रम देखा जा सकता है ।

**3. व्यक्तिगत भिन्नता का सिद्धांत:-** इस सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विकास की गति भिन्न होती है । किसी व्यक्ति का शारीरिक विकास शीघ्र होता है तो किसी का मानसिक विकास । कुछ बालक छोटी उम्र में ही सामाजिक समायोजन करना सीख जाते हैं तो कुछ व्यक्ति ढलती उम्र तक भी ठीक प्रकार से नहीं सीख पाते । समान आयु के बालक अथवा व्यक्ति में यह आवश्यक नहीं है कि उनमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक अथवा चारित्रिक विकास एक ही गति से हो । वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के विकास की गति अपने से अलग ही होती है ।

उदाहरण- एक ही माता-पिता के दो संतानें समान नहीं होती हैं तथा प्रत्येक बच्चे को एक समान पर्यावरण नहीं दे पाते हैं । इससे बच्चों में व्यक्ति भिन्नता और बढ़ जाती है ।

**4. समान प्रतिमान का सिद्धांत:-** इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक जाति, प्रजाति, पशु-पक्षी के विकास के अलग-अलग प्रतिमान होते हैं लेकिन एक ही जाति अथवा प्रजाति के विकास के प्रतिमान समान होते हैं । प्रत्येक जाति अपने जाति के अनुरूप विकास के प्रतिमान का अनुसरण करती हैं ।

उदाहरण- मानव शिशु कहीं भी जन्म ले लगभग चार माह तक पेट के बल गति करता है, फिर पैरों के बल खड़ा होता और फिर धीर-धीरे चलने लगता है । इसके विपरीत गाय का बच्चा जन्म लेते ही पैरों पर खड़ा हो जाता है ।



**5. सामान्य से विशिष्ट प्रक्रियाओं का सिद्धांत:**— इस सिद्धांत के अनुसार, विकास के सभी अवस्थाओं में बालक की प्रक्रियाएँ विशिष्ट बनने से पूर्व सामान्य होती हैं ।

उदाहरण— प्रारम्भिक अवस्था में बालक हर वस्तु को मुँह में डालने की चेष्टा करता है। धीरे-धीरे अपने अनुभव द्वारा केवल खाद्य पदार्थों को ही मुँह में रखता है । और अंत में विशिष्ट वस्तु को मुँह में डालना सीखता है । भाषा ज्ञान बालक में सामान्य से विशिष्ट प्रक्रियाओं के तहत ही प्राप्त होता है ।

**6. एकीकरण का सिद्धांत:**— विकास की प्रक्रिया एकीकरण की सिद्धांत का पालन करती है । उसके अनुसार, बालक अपने सम्पूर्ण अंग को और फिर अंग के भागों को चलाना सीखता है । उसके बाद वह उन भागों में एकीकरण करना सीखता है । सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ते हुए विशेष प्रतिक्रियाओं और चेष्टाओं को इकट्ठे रूप में प्रयोग में लाना सीखता है ।

उदाहरण— एक बालक पहले पूरे हाथ को फिर अंगुलियों को फिर हाथ एवं अंगुलियों को एक साथ चलाना सीखता है ।

**7. परस्पर संबंध का सिद्धांत:**— इस सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति के विकास के विभिन्न पक्षों का आपस में संबंध होता है । ये एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और प्रभावित होते हैं । उदाहरण— बालक का शारीरिक विकास होने के साथ-साथ उसका भाषायी विकास होता है । शरीर के विभिन्न अंगों की पुष्टता एवं परिपक्वता के अनुसार उसके मानसिक, भाषायी, संवेगात्मक, सामाजिक एवं चारित्रिक विकास में वृद्धि होती है । लेकिन पारस्परिक संबंध के साथ शिक्षा एवं पर्यावरण की भूमिका इनके लिए प्रमुख होती है ।

**8. मस्तकाधोमुखी का सिद्धांत:**— इस सिद्धांत के अनुसार, विकास की क्रिया शीर्ष से आरम्भ होकर पैरों की ओर जाती है । अर्थात् प्राणी का मस्तक पहले विकसित होता है बाद में उसके नीचे के अंगों का विकास होता है । मानव रचना में सिर पहले फिर धड़ अंत में हाथ पैर की अंगुलियों का होना बताया गया है ।

**9. पूर्ण से अंश की ओर का सिद्धांत:**— इस सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति पहले अपने सम्पूर्ण शरीर का प्रयोग करता है । बाद में वह केवल एक अंश का प्रयोग करता है ।

उदाहरण— शिशु खिलौना पकड़ने में हाथ-पाव, मुख तथा धड़ भी उठाता है । बाद में वह केवल अपना हाथ ही बढ़ाता अर्थात् एक हाथ ही खिलौना उठा सकता है । इस सिद्धांत को सामान्य से विशिष्ट की ओर का सिद्धांत भी कहा जाता है ।

**10. विकास के निश्चित दिशा का सिद्धांत:**— मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन से यह सिद्ध किया है कि बालक का विकास एक निश्चित दिशा में ही होता है । उदाहरण— प्रारम्भ में बालक पहले अपना सिर उठाना सीखता है उसके बाद वह अन्य भागों पर नियंत्रण करना सीखता है क्योंकि मनुष्य का विकास निश्चित दिशा में होता है । वह हमेशा सिर से पैर की ओर होता है । अतः तब बालक को चलने, सीखने में 12-18 माह तक का समय लगता है ।

**11. विकास की विभिन्न गति का सिद्धांत:**— मनोवैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत के अंतर्गत स्पष्ट किया है कि व्यक्तियों के विकास में गति भिन्न-भिन्न होती है । यह भिन्नता विकास के सम्पूर्ण काल तक बनी रहती है । प्रायः यह देखा गया है कि जो बालक जन्म के समय लम्बा होता है वह बड़ा होने पर भी लम्बा होता है । और जो छोटा होता है, छोटा रहता है ।

**12. चक्राकार गति का सिद्धांत:**— इस सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति का विकास रेखीय गति एवं स्थिर दर से न होकर चक्राकार ढंग से होता है । किसी भी अवस्था में बालक का विकास जब किसी स्तर (0-5 वर्ष) तक हो जाता है तो उसके बाद कुछ समय के लिए विकास में विराम आ जाता है । और यह समय उसके पूर्व में अर्जित स्थिति के साथ समायोजन में व्यतीत करता है । इस स्तर से आगे के विकास के लिए पहले विकास की दिशा पिछले की ओर फिर दिशा बदलकर आगे की दिशा में विकास होता है ।

**13. वंशानुक्रम तथा पर्यावरण की अंतःक्रिया का सिद्धांत:**— इस सिद्धांत के अनुसार, बालक का विकास वंशानुक्रम तथा पर्यावरण दोनों पर निर्भर करता है । वंशानुक्रम

से तात्पर्य उन गुणों से है जिन्हें वह वंश एवं माता-पिता के जीन से प्राप्त करता है । और पर्यावरण का तात्पर्य बालक के उस परिवेश (प्राकृतिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि) से है जिसमें वह रहता है और उसका विकास होता है ।

वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा स्पष्ट किया है कि व्यक्ति का विकास इन वंशानुक्रम एवं पर्यावरण के योग से नहीं वरन् उन दोनों की परस्पर अंतःक्रिया से होता है ।

### विकास को प्रभावित करने वाले कारक:

- 1. वंशानुक्रम या अनुवांशिकता:**— गर्भाधान से ही बालक में अनुवांशिक गुणों का प्रवेश हो जाता है । बालक का विकास उसके वंशानुक्रम पूर्वजों के गुणों एवं प्रजाति के अनुसार ही होता है । ये गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्थानान्तरित होते रहते हैं । बालक के रंग, रूप, कद, लंबाई, मोटाई, बुद्धि एवं चरित्र आदि को वंशानुक्रम संबंधी विशेषताएँ प्रभावित करती हैं । प्रायः यह देखा जाता है कि तीव्र बुद्धि माता-पिता के संतान भी तीव्र बुद्धि की ही होती है । उसी प्रकार मंद बुद्धि के माता-पिता के संतान मंद बुद्धि ही होते हैं ।
- 2. शारीरिक संरचना:**— शारीरिक संरचना एक जैविक कारक है । इसके अंतर्गत शरीर की लंबाई, ऊँचाई, चौड़ाई, भार, वर्ण, चेहरा आदि आते हैं जो लोग शरीर से लंबे, बलिष्ठ, सुंदर तथा आकर्षक होते ह; वे प्रायः मॉडलिंग और अभिनय के क्षेत्र में सफल रहते हैं । इसी तरह बहुत मोटे लोग भी अपने लिए उपयुक्त व्यवसाय का चयन कर अपना विकास कर लेते हैं ।
- 3. लिंग भेद:**— शारीरिक और मानसिक विकास पर लिंग भेद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । यह प्रायः देखा जाता है कि जन्म के समय बालकों का आकार बड़ा होता है परन्तु बालिकाओं का शारीरिक विकास बालकों की अपेक्षा शीघ्र होता है और वे जल्द ही परिपक्व हो जाती हैं । बालिकाओं का मानसिक विकास बालकों की अपेक्षा शीघ्र होता है ।

4. **वातावरण**:- वातावरण का भी बालक के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है । शैशवावस्था से ही वातावरण का प्रभाव बालक पर पड़ता है । स्कूल, समाज, खेल का मैदान तथा परिवार के वातावरण से ही बालक का विकास होता है और धीरे-धीरे यह इस स्थिति में आ जाता है कि वह स्वयं ही वातावरण पर प्रभाव डालता है । परिवेश का यह प्रभाव बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था और जीवन के अंतिम क्षण तक पड़ता है ।
5. **बुद्धि (Intelligent)**:- बुद्धि मानव की विकास को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख कारक है क्योंकि मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि तीव्र बुद्धि वाले बालकों का शारीरिक एवं मानसिक विकास तीव्र गति से होता है । सामान्य बुद्धि के बालकों को बोलने, सीखने में 16 माह लगते हैं । वहीं प्रतिभासम्पन्न बालक को बोलने, सीखने में 11 माह लगते हैं । यही कारण है कि तीव्र बुद्धि के लोगों में विकास बहुत तेजी से होता है और निम्न स्तर के बुद्धि वालों में विकास अपेक्षाकृत विकास सीमा पाया जाता है ।
6. **अन्तः स्त्रावी ग्रन्थियाँ**:- बालक के शरीर में बहुत सी अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियाँ होती हैं जिनका प्रभाव उसके विकास पर पड़ता है । जिनसे विशेष प्रकार के रसों या हार्मोन का स्त्राव होता है । जैसे- गल ग्रन्थी (थायरॉइड) से निकलने वाले हार्मोन से बालक के कद पर प्रभाव पड़ता है । अन्यथा बालक का कद बहुत अधिक प्रभावित होता है ।
7. **संवेगात्मक कारक**:- प्रत्येक व्यक्ति के संवेग मूल प्रवृत्तियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं । जैसे- कुछ लोग जन्म से ही क्रोधी होते हैं तथा कुछ बालक जन्म से ही शान्त और विनम्र होते हैं । उनके व्यक्तित्व में ये लक्षण परिलक्षित होते हैं ।
8. **शुद्ध वायु एवं प्रकाश**:- शुद्ध वायु, जल एवं प्रकाश का बालक के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है । बिना इनकी समुचित व्यवस्था के बालक अनेक रोगों का शिकार हो जाता है इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । इन सबके आभाव में बालक का शारीरिक, मानसिक विकास अवरूद्ध हो जाता है । ये सभी जीवन रक्षक आवश्यकताएँ हैं ।

- 9. उचित पोषाहार:**— उचित पोषाहार न प्राप्त होने से बालक का उचित विकास अवरुद्ध हो जाता है । बालक के विकास पर पोषण का अत्याधिक प्रभाव पड़ता है। बालक के लिए आहार ही पर्याप्त नहीं है अपितु इस आहार में निहित संतुलित पोषण तत्वों का होना आवश्यक है । जैसे— विटामिन, प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज लवण, चीनी । ऐसे तत्वों का शरीर तथा मस्तिष्क दोनों के संतुलित विकास में सहायक होते हैं । पोषक तत्वों के अभाव में बालक का विकास संतुलित ढंग से नहीं होता है ।
- 10. समाज और संस्कृति:**— बालक के विकास पर समाज और संस्कृति का भी प्रभाव पड़ता है । समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, मान्यताएँ और नैतिक मूल्य विकास की गति और दिशा का निर्धारण करते हैं । सामाजिक संस्थाएँ भी अनेक प्रकार के कार्यक्रमों के द्वारा व्यक्ति के विकास में सहयोग प्रदान करते हैं ।
- 11. पारिवारिक पृष्ठभूमि:**— पारिवारिक वातावरण और परिवार में स्थान बालक के विकास को काफी प्रभावित करता है । यदि परिवार आर्थिक रूप से सम्पन्न और खुले विचारों वाला है तो उसके बालक भी स्वस्थ खुले विचारों के होंगे । परिवार में बालक का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता है । परिवार में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ बच्चे के विकास प्रथम बच्चे की अपेक्षा तीव्रता से होता है क्योंकि बाद में उत्पन्न बच्चों को विकसित वातावरण प्राप्त होता है तथा उन्हें बड़े भाई-बहनों के अनुकरण करने का अधिक अवसर मिलता है ।
- 12. भयानक रोग एवं चोट:**— भयंकर चोट एवं रोग से बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास प्रभावित होता है । अर्थात् बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास प्रभावित करता है । उदाहरण— यदि माता के गर्भकाल में धूमपान तथा औषधि के रूप में विषैले चीजों का सेवन करती है तो उसका प्रभाव चर्म में स्थित बालक पर पड़ता है । विषैले दवाओं के प्रभाव से भी विकास रूक जाता है ।
- 13. विद्यालय:**— बालक के विकास में विद्यालय के वातावरण, अध्यापक तथा शिक्षा के साधनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । जिन विद्यालयों में कक्षा शिक्षण के साथ-साथ पाठ्यसहगामी क्रियाओं को आयोजन किया जाता है, वहाँ बालकों को अपनी प्रतिभा के विकास के अवसर मिलते हैं । अध्यापकों का व्यवहार भी बालक के विकास पर सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव डालता है ।

## विकास के सिद्धांतों का शैक्षिक महत्त्व:

1. विकास की गति और मात्रा सभी बालकों में एक जैसी नहीं पायी जाती है । अतः व्यक्तिगत भिन्नता को ध्यान में रखकर सभी बालकों में एक जैसे विकास की आशा नहीं करनी चाहिए । यदि बालक से अधिक की अपेक्षा की जाएगी तो उसमें अपूर्णता की भावना आ जाती है । अतः बालक की भावनाओं और क्रियाओं को बराबर प्रोत्साहन देना चाहिए ।
2. विकास के सिद्धांत पाठ्यक्रम निर्माण में बड़े सहायक होते हैं । पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया जाना चाहिए जिससे सभी बालकों का सभी क्षेत्र में विकास हो सके । अर्थात् पाठ्यक्रम बालकों के अनुरूप होना चाहिए । पाठ्यक्रम में पाठ्य सहगामी (ड्राइंग, खेल-कूद, सेमिनार आदि) क्रियाओं का आयोजन होना चाहिए । विकास के सिद्धांतों के ज्ञान के कारण ही बालकों की विभिन्न अवस्थाओं के लिए भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम बनाये जा सकते हैं ।
3. विकास के सिद्धांतों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बालक का विकास सामान्य रूप से हो रहा है या नहीं । इस अनुमान से उनके विकास के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था तथा सहयोग दिया जा सकता है । माता-पिता, अध्यापक, अभिभावक बालकों के विकास की दिशाओं को ध्यान में रखते हुए शारीरिक और मानसिक विकास की दिशाओं को ध्यान में रखते हुए शारीरिक और मानसिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण एवं साधन प्रदान करने का प्रयत्न कर सकेंगे ।
4. विकास किस प्रकार का होता है इसके ज्ञान से अभिभावक एवं अध्यापक यह निर्धारित करता है कि बालक के विकास के लिए कब अधिक और कब कम प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

उदाहरण- जब शिशु चलना आरम्भ कर देता है तब उसे चलने के अभ्यास के लिए पूर्ण अवसर उपयुक्त वातावरण और उपयुक्त सामग्री प्रदान करना चाहिए । उचित वातावरण के अभाव में ध्यान न देने पर वह देर से चलना आरम्भ करता है ।

विकास की प्रत्येक अवस्था की संभवनाएँ और सीमाएँ होती हैं । इससे यह संकेत मिलता है कि अध्यापक और माता-पिता को बालकों से अधिक अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए जो उनकी विकास की अवस्था से परे है । ऐसा करने से बालकों में कूठा, तनाव हो जाता है ।

5. विकास की अंतःसम्बद्धता ज्ञान को अंतः सम्बन्धित तरीके से प्रस्तुत करने का संकेत देती है अर्थात् जो कुछ सिखाया उसको व्यावहारिक रूप में करने की शिक्षा दी जाती है ।
6. वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों मिलकर बालक के विकास के लिए उत्तरदायी हैं न कि कोई एक । इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । इस बात का ज्ञान वातावरण में आवश्यक सुधार लाकर बालकों को अधिक से अधिक कल्याण करने के लिए प्रेरित करता है ।



## विकास की विभिन्न अवस्थाएँ (Stages of Development)

1. शशवास्था (0–5 वर्ष)
2. बाल्यावस्था (6–12 वर्ष)
3. किशोरावस्था (13–18 वर्ष)

### शैशवास्था (0–5 वर्ष) (Infancy)

**भूमिका:**— शैशवास्था बालक निर्माण काल है, जो मानव की सर्वप्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण अवस्था है। यह अवस्था जन्म से 5 वर्ष या 6 वर्ष तक मानी जाती है। इस अवस्था को मानव जीवन की आधारशीला के रूप में देखा जाता है। मनोविज्ञान का मानना है कि व्यक्ति अपने भावी जीवन में जो कुछ भी बनना होता है उसका निर्धारण 4–5 वर्ष की आयु तक ही हो जाता है। इस अवस्था में शिशु अपरिपक्वता दूसरों पर पूर्णतया निर्भर रहता है। 20वीं शताब्दी को बालक की शताब्दी कहे जाने का कारण यह है कि इस शताब्दी में मनोवैज्ञानिकों ने बालक और उसके विकास की अवस्थाओं के संबंध में अनेक गंभीर और विस्तृत अध्ययन किए हैं। इस अवस्था में उसका जितना ही अधिक निरीक्षण और निर्देश दिया जाता है उतना ही अधिक उसका उत्तम विकास और जीवन होता है।

#### परिभाषाएँ

**क्रो व क्रो** — “20वीं शताब्दी को बालक की शताब्दी कहा जाता है।”

**न्यूमैन** — “5 वर्ष तक की अवस्था शरीर तथा मस्तिष्क के लिए बड़ी ग्रहणशील होती है।”

**फ्रायड** — “मनुष्य को जो कुछ बनना होता है वह 4–5 वर्षों में बन जाता है।”

**एडलर** — “बालक के जन्म के कुछ माह बाद ही यह निश्चित किया जा सकता है कि जीवन में उसका क्या स्थान है।”

**वैलेंट्ज़** — “शैशवास्था को सीखने का आदर्श काल माना जाता है।”



## शैशवास्था की विशेषताएँ

- 1. शारीरिक विकास की तीव्रता:**— शैशवास्था के प्रथम तीन वर्षों में शिशु का शारीरिक विकास अति तीव्र से होती है । 1 वर्ष के भीतर ही शिशु की अस्थियाँ, मांसपेशियाँ एवं अन्य अंग इतने विकसित हो जाते हैं । उसके उठने, बैठने, पलटने, खड़े होने में समर्थ हो जाते हैं । उसकी इंद्रियों, कमन्द्रियों, आंतरिक इंद्रियाँ, माँसपेशियों आदि का क्रमेक विकास हो जाता है । 3 वर्ष की अवस्था के बाद यह गति मंद हो जाती है ।
- 2. मानसिक शक्तियों का तीव्र विकास:**— शिशु की मानसिक क्रियाओं जैसे— संवेदना, ध्यान, स्मृति, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण आदि का विकास बहुत तीव्र गति से होता है । 3 वर्ष की आयु तक शिशु की लगभग सब मानसिक शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं। अतः वह देखना, समझना शुरू कर देता है ।
- 3. सीखने की प्रक्रिया में तीव्रता:**— प्रारंभिक वर्षों में बालक की प्रक्रिया में बहुत तीव्रता होती है क्योंकि बालक बहुत अधिक जिज्ञासु हाता है । **गेसल** के अनुसार, “बालक प्रथम 6 वर्षों में, बाद के 12 वर्षों से दुगुणा सीख लेता है ।” क्योंकि बालक की अनुकरण प्रवृत्ति बहुत तेज होती है ।
- 4. कल्पना की सजीवता:**— शैशवास्था में बालक सत्य व असत्य में पूर्णतः भेद नहीं कर पाता है तथा उसमें अपने वातावरण को नियंत्रित करने की क्षमता नहीं होती है । परिणयता वह काल्पनिक जगत में विचरण करने लगता है तथा बालक दूरदर्शन, कुछ धारावाहिकों में की गई क्रियाओं को हुबहू करने के प्रयास में चोट खा बैठता है ।
- 5. दूसरों पर निर्भरता:**— जन्म के बाद शिशु दूसरों पर ही निर्भर रहता है । कुछ भी स्वयं नहीं कर सकता है और भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है । मुख्यतः वे अपने माता—पिता पर ज्यादा निर्भर रहते हैं ।
- 6. आत्म प्रेम की भावना:**— इस अवस्था में शिशु के अंदर स्वप्रेम की भावना अधिक होती है । बालक माता—पिता के अलावा किसी और से प्रेम नहीं करता । यही

कारण है कि माता-पिता द्वारा अन्य भाई-बहनों के प्रति प्रेम व्यक्त किया जाता है तो वह उनसे ईर्ष्या करने लगता है ।

7. **नैतिकता का अभाव:-** शिशु में अच्छी और बुरी, उचित और अनुचित, सत्य और असत्य बातों का ज्ञान नहीं होता है । वह उन्हीं कार्यों को करने के प्रति अधिक लालायित होता है जिससे उनको आनंद की प्राप्ति होती है । चाहे वे कार्य अच्छा हो या न हो ।
8. **मूल प्रवृत्तियों पर आधारित व्यवहार:-** शैशवास्था में बालक अधिकतर व्यवहार एवं मूल प्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं । जैसे- पास में पड़ी किसी भी चीत को मुँह में रख लेता है तथा उसकी कोई प्रिय वस्तु न मिलने पर वह रोने लगता है ।
9. **जिज्ञासा की प्रवृत्ति:-** इस अवस्था में शिशु की जिज्ञासा की प्रवृत्ति बहुत तेज होती है । वह प्रत्येक खिलौने को अनेक प्रकार से खेलने, फेंकने, उनके भागों को अलग-अलग करने, तोड़ने आदि की क्रियाएँ करता है । इन क्रियाओं के माध्यम से अपनी जिज्ञासा शांत करना चाहता है और प्रत्येक वस्तु की जानकारी अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है ।
10. **दोहराने की प्रवृत्ति:-** शिशु में दोहराने की प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है । उसमें शब्दों और गलतियों को दोहराने की प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है । ऐसा करने से वह विशेष आनंद का अनुभव करता है ।
11. **संवेगों का प्रदर्शन करना:-** शिशु में, जन्म के समय उत्तेजना के अलावा और कोई संवेगना नहीं होता है । प्रारंभ में शिशु के संवेग स्पष्ट नहीं होते परंतु धीरे-धीरे उनके संवेगों में स्पष्टता आने लगती है । जैसे- सत्य, क्रोध, प्रेम, रोना, पीड़ा और चिल्लाना, हाथ-पैर पटकना इत्यादि ये सभी शिशुओं के संवेग होते हैं ।
12. **सामाजिक भावना का विकास:-** बालकों की आयु 4-5 वर्ष में सामाजिक भावना का विकास आरंभ हो जाता है । प्रारंभ में वह अकेले ही खेलता है किन्तु 4-5 वर्ष का होने पर अपनी उम्र की दूसरे साथियों के साथ खेलता व आनंदित होता है । इससे खेलते समय अपने समूह के सदस्यों से सहयोग देने में उनमें सामाजिक भावना का विकास होता है ।

**13. काम प्रवृत्ति:-** बाल मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि शिशु में काम प्रवृत्ति बहुत होती है । प्रारंभ में उसकी प्रेम भावना स्वार्थमयी होती है तथा वह अपने शरीर से प्रेम करता है । हाथ-पैर का अंगूठा चूसना इसी भावना का द्योतक है । 3-4 वर्ष की आयु में लड़का या बालक अपने माता से, बालिका अपने पिता से प्यार करने लगती है ।

### शैशवास्था में शिक्षा का स्वरूप

शैशवास्था का विशेष शैक्षणिक महत्त्व होता है क्योंकि इस अवस्था में शिशुओं में सीखने की प्रवृत्ति बहुत तीव्र होती है तथा वह शीघ्रता से अनुकरण करते हैं । शैशवास्था को अधिगम हेतु उत्तम एवं आदर्श समय भी माना गया है ।

वलेनटाइन ने “ शैशवास्था को सीखने का आदर्श काल माना है ।”

वाटसन ने “ शैशवास्था में सीखने की सीमा और तीव्रता और विकास की ओर किसी अवस्था की तुलना में बहुत अधिक होती है ।”

इस कथन को ध्यान में रखकर शैशवास्था में शिक्षा का स्वरूप या आयोजन निम्न प्रकार है:-

**1. खेल एवं क्रिया के माध्यम से शिक्षा:-** शिशु को खेल एवं क्रिया के माध्यम से शिक्षा दी जानी चाहिए । शिशु के खेल में जन्म से रुचि होने के कारण खेल ही शिशु की सक्रियता का आधार होती है । अतः इस अवस्था में शिशु को खेल प्रक्रिया करने में अधिक से अधिक अवसर दिए जाने चाहिए ।

**2. उचित वातावरण:-** शैशवास्था में बालक शांत, स्वस्थ, सुरक्षित, सुन्दर और आकर्षक वातावरण पसंद करता है । अतः उसके विकास हेतु घर एवं विद्यालय दोनों जगह अच्छे एवं उपयुक्त वातावरण का सृजन करना चाहिए ।

3. **उचित व्यवहार:**— शिशु अपने आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है । उसके माता-पिता और शिक्षक को उसकी इस असहाय स्थिति का लाभ नहीं उठाना चाहिए । अतः उन्हें डाँटना या पीटना नहीं चाहिए और न उसे भय व क्रोध दिखाना चाहिए । इसके विपरीत उन्हें उसके प्रति सदैव प्रेम, शिष्टता और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए ।
4. **जिज्ञासा की संतुष्टि:**— क्रो व क्रो के अनुसार शिशु शीघ्र ही अपनी आस-पास के वस्तुओं के संबंध में अपनी जिज्ञासा व्यक्त करने लगता है । वह उनके विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा को शांत करना चाहता है । उसके माता-पिता और शिक्षक को उसके प्रश्नों के उत्तर देकर उसके जिज्ञासा को संतुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए ।
5. **वास्तविकता का ज्ञान:**— शिशु कल्पना की जगत में विचरण करता है और उसी को वास्तविक संसार समझता है । अतः उसे वैसी विषयों की शिक्षा दी जाने चाहिए जो उसे वास्तविकता के निकट लाए । मॉण्टेसरी पद्धति में परियों की कहानी का इसलिए स्थान नहीं दिया गया है क्योंकि वे बालक को वास्तविकता से दूर ले जाती है ।
6. **आत्मनिर्भरता का विकास:**— छोटे बालकों में आत्म-प्रदर्शन की प्रबल भावना होती है । शिक्षकों को उन्हें ऐसे कार्य एवं अवसर देने चाहिए कि वे अपनी इस भावना की अभिव्यक्ति कर सकें । आत्मनिर्भरता से शिशु को स्वयं सीखने, काम करने और विकास करने की प्रेरणा मिलती है । इसलिए शिशुओं को स्वतंत्रता प्रदान करके आत्मनिर्भर बनने का अवसर दिया जाना चाहिए ।
7. **निहित गुणों का विकास:**— शिशुओं में अनेक गुण अंतर्निहित होते हैं परंतु वह अपनी अभिव्यक्ति स्वयं नहीं कर पाता है । उसे अधिक से अधिक प्रोत्साहित करके इस प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए जिसमें उनमें इन गुणों का विकास हो । यही कारण है कि आधुनिक युग में शिशु के प्रति विशेष ध्यान दिया जा रहा है ।

8. सामाजिक भावना का विकास:- शैशवास्था के अंतिम भाग में शिशु दूसरे बालकों के साथ मिलना-जुलना और खेलना पसंद करता है उसे इन बातों का अवसर दिया जाना चाहिए जिसे उसमें सामाजिक भावना का विकास हो ।
9. मानसिक क्रियाओं का अवसर:- शिशु में मानसिक क्रियाओं की तीव्रता होती है । अतः उन्हें सोचने-विचारने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिए ।
10. अच्छी आदतों का निर्माण:- ड्राइडेन का कथन है कि पहले हम अपनी आदतों का निर्माण करते फिर हमारी आदतें हमारा निर्माण करती है । शिशु के माता और शिक्षक को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उन्हें उसमें सत्य बोलने को, बड़ों का आदर करने, समय पर उठने, समय पर काम करने, समय पर पहनना ऐसी अच्छी आदतों का निर्माण करना है, जिससे उनका भावी जीवन सुन्दर हो ।
11. मूल प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन:- शिक्षक के व्यवहार का आधार उसकी मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं । उनका दमन न करके सभी संभव विधियों से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए क्योंकि दमन करने से शिशु का विकास अवरुद्ध हो जाता है ।
12. क्रिया द्वारा शिक्षा:- बालक कुछ प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेता है, जो उसे कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं । अतः उसे उनके अनुसार कार्य करके शिक्षा प्राप्त करने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए ।
13. खेल द्वारा शिक्षा:- शिशु को खेल द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए । शिशु अपने ओर संसार के बारे में अधिकांश खेल द्वारा जानता है ।
14. चित्रों व कहानियों द्वारा शिक्षा:- शिशु की शिक्षा में कहानियाँ और सहचित्र पुस्तकों का विशिष्ट स्थान होना चाहिए । शिशु अवस्था में बालक कहानी सुनने, चित्रों को देखने तथा छोटी-छोटी मनोरंजनात्मक कविताओं को याद करने में अधिक रुचि रखता है । अतः उसे कविता, कहानी एवं चित्रों द्वारा शिक्षा प्रदान करनी चाहिए ।
15. विभिन्न अंगों की शिक्षा:- शिशु की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए । रूसो ने लिखा है बालक के हाथ, पैर और नेत्र उसके

प्रारंभिक शिक्षक हैं । उन्हीं के द्वारा वह 5 वर्ष में ही पहचान सकता है, सोच सकता है, याद कर सकता है ।

## बाल्यावस्था (Childhood)

**भूमिका:**— बाल्यावस्था वास्तव में मानव जीवन का वह स्वर्णिम समय है जिसमें उसका सर्वांगीण विकास होता है । 6–12 वर्ष की अवस्था को बाल्यकाल के नाम से संबोधित किया जाता है । बाल्यावस्था अपनी विशिष्टताओं के कारण मानव जीवन का अनोखा काल है । मनोवैज्ञानिक ने बाल्यकाल को अनोखा काल कहा है ।

इस अवस्था को समझ पाना बहुत कठिन होता है क्योंकि विकास की दृष्टि से यह एक जटिल अवस्था होती है । इस अवस्था में विभिन्न प्रकार के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं नैतिक परिवर्तन बालक में उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार बाल्यावस्था का मानव की अभिवृद्धि एवं विकास क्रम में महत्वपूर्ण स्थान है ।

### परिभाषाएँ

**कुप्पूस्वामी के अनुसार** — “इस अवस्था में बालक में अनेक अनोखे परिवर्तन होते हैं ।

इसलिए यह अवस्था जीवन का अनोखा काल माना जाता है ।”

**ब्लेयर के अनुसार** — “बाल्यकाल वह समय है जब व्यक्ति के आधारभूत दृष्टिकोणों, मूल्यों

एवं आदर्शों का बहुत सीमा का निर्माण हो जाता है ।”

### बाल्यावस्था की विशेषताएँ

शैशवस्था के बाद बाल्यावस्था का आरंभ हो जाता है । 6–12 वर्ष की इस अवस्था को बाल्यकाल अनोखा काल कहा जाता है । इसके निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

1. **शारीरिक मानसिक विकास में स्थिरता:**— 6 से 7 वर्ष के आयु में बालक के शारीरिक और मानसिक विकास में स्थिरता आ जाती है । अर्थात् विकास की गति

मंद पड़ जाती है और यह स्थिरता बालक की शारीरिक व मानसिक शक्तियों को दृढ़ता प्रदान करती है । बालक की चंचलता खत्म होने लगती है तथा वह वयस्कों के समान व्यवहार करना चाहता है । **रॉस (Ross)** बाल्यावस्था को मिथ्या परिपक्वता का काल कहा जाता है ।

2. **मानसिक योग्यताओं में वृद्धि:**— बाल्यावस्था में बालक के मानसिक योग्यताओं का विकास तीव्र गति से होता है । उसकी संवेदना और प्रत्यक्षीकरण की शक्तियों में वृद्धि होती है । वह विभिन्न बातों के बारे में तर्क और विचार करने लगता है । वह साधारण बातों पर अधिक देर तक अपने ध्यान को केंद्रित कर सकता है और अपने पूर्व अनुभवों को स्मरण रखने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है ।

3. **जिज्ञासा की प्रबलता:**— इस अवस्था तक आते-आते बालक प्रबल जिज्ञासु बन जाता है । वह जिन वस्तुओं के संपर्क में आता है उनके बारे में प्रश्न पूछकर हर तरह की जानकारी प्राप्त करना चाहता है । वह शिशु के समान प्रश्न नहीं पूछता है कि वह क्या है ? इसके विपरीत वह यह प्रश्न पूछता है — यह ऐसे क्यों हैं ? यह ऐसे कैसे हुआ है ?

4. **कल्पना में वास्तविक का समावेश:**— शैशवावस्था में बालक काल्पनिक जगत का परित्याग करके वास्तविक में तैयारी करते हैं । सह उसके प्रत्येक वस्तु से आकर्षित होकर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है ।

**स्ट्रैंग के शब्दों के अनुसार**— “बालक अपने को अति विशाल संसार में पाता है और उसके बारे में जल्दी से जल्दी जानकारी प्राप्त करना चाहता है ।”

5. **रचनात्मक कार्यों में आनंद:**— बालकों को रचनात्मक कार्यों में विशेष आनंद आता है । वह साधारणतः घर से बाहर किसी प्रकार का कार्य करना चाहता है । जैसे— लड़के बगीचे में काम करना, औजारों से लकड़ी की वस्तुएँ बनाना, कागज या अन्य चीजों से खेल के वस्तु बनाना, गाड़ी बनाना आदि कार्यों में विशेष आनंद का अनुभव करते हैं । इसके विपरीत बालिका सिंचाई, कढ़ाई, बुनाई, रसोई से संबंधित कार्यों में झाड़ू करना, खाना बनाना, खाना बाँटना आदि कार्यों में विशेष रुचि लेती है ।

6. **सामाजिक एवं नैतिक गुणों का विकास:**— बाल्यावस्था में बालक का नैतिक एवं सामाजिक विकास प्रारंभ हो जाता है । बालक विद्यालय के छात्रों और अपने समूह के सदस्यों के साथ पर्याप्त समय व्यतीत करता है । उसका व्यवहार दूसरों की

प्रशंसा व निंदा पर आधारित होने लगती है जिसके कारण उसमें अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है । जैसे— आज्ञापालन, सहयोग, सद्भावना, आत्मनियंत्रण, अनुशासन, सत्यता, ईमानदारी, सहानुभूति आदि ।

7. **संवेगों पर नियंत्रण:**— शैशवावस्था में संवेगों के प्रदर्शन पर शिशु का नियंत्रण नहीं होता है । परंतु बाल्यावस्था में इने इनके प्रदर्शन पर नियंत्रण रखने का प्रयास करने लगता है । क्योंकि वह अच्छी व बुरी आदतों, इच्छाओं में अंतर समझने लगता है और इन इच्छाओं का दमन करने लगता है । जिसे माता-पिता और दूसरे बड़े लोग पसंद नहीं करते हैं । जैसे— काम संबंधी भावनाएँ ।
8. **संग्रह प्रवृत्ति:**— बाल्यावस्था में बालक तथा बालिकाओं में वस्तुओं को संग्रह करने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा पाई जाती है । बालक विशेष रूप से काँच की गोलियाँ, टिकटों, मशीन के कल-पुर्जों, पत्थर के टुकड़ों—खिलौनों आदि का संग्रह करने में विशेष रुचि लेते हैं और बालिकाएँ चित्रों, खिलौनों, गुड़ियों, कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़ों आदि का संग्रह करने लगती हैं ।
9. **बहिर्मुखी व्यक्तित्व का विकास:**— शैशवावस्था में बालक का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी होता है क्योंकि वह एकांत प्रिय और केवल अपने रुचि लेने वाला होता है । इसके विपरीत बाल्यावस्था में उसका व्यक्तित्व बहिर्मुखी हो जाता है । क्योंकि बाह्य जगत में उसकी रुचि उत्पन्न होने लगती है । अतः वह अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं और कार्यों में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करना चाहता है ।
10. **निरुद्देश्य ब्राह्मण की प्रवृत्ति:**— बालक में बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर घूमने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है । बाल्यावस्था में बालक तथा बालिकाओं में वस्तुओं को संग्रह करने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है । लगभग 9 वर्ष के बालकों में आवारा घूमने, बिना छुट्टी लिये विद्यालय से भागना और आलस्यपूर्ण जीवन जीने की प्रवृत्ति पायी जाती है ।
11. **काम प्रवृत्ति की न्यूनता:**— बालक में काम प्रवृत्ति की न्यूनतम होती है । बालक अधिकांश अपना समय मिलने-जुलने, खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने में व्यतीत करता है । अतः वह बहुत ही अवसरों पर अपनी काम प्रवृत्ति का प्रदर्शन कर पाता है ।



**12. रुचियों में परिवर्तन**:- बाल्यावस्था में बालक-बालिकाओं की रुचियों में स्थिरता नहीं रहता है तथा उनकी रुचियों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है । वातावरण तथा समूह में परिवर्तन के साथ-साथ बालक-बालिकाओं की रुचियाँ व्यापक रूप से परिवर्तित होती रहती हैं ।

**13. सामूहिक खेलों में रुचि**:- बालक-बालिकाओं में सामूहिक रुचि बहुत प्रबल होती है। वह अपना समय अधिकाधिक दूसरे बालकों के साथ व्यतीत करने का प्रयास करता है । बालक को सामूहिक खेल में अत्यधिक रुचि होती है । वह 6-7 वर्ष की आयु में छोटे-छोटे समूहों में बहुत काफी समय तक खेलता है । खेल के समय बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में झगड़े अधिक होते हैं । 11-12 वर्ष की आयु में बालक दलीय खेलों में भाग लेने लगता है ।

**स्ट्रैंग के अनुसार**- “ ऐसा शायद ही कोई खेल हो जिसे 10 वर्ष के बालक न खेलते हों ।”

## बाल्यावस्था में शिक्षा

बाल्याकाल बालक के जीवन की आधारशीला है । इस अवस्था में बालक विद्यालय में जाने लगता है और उसे नवीन अनुभव प्राप्त होता है । बाल्यावस्था शैक्षिक दृष्टि से बालक के निर्माण की अवस्था है । इस अवस्था में बालक अपना समूह अलग बनाने लगता है ।

**ब्लेयर व जॉन्स ने लिखा है,** “बाल्यावस्था वह समय है जब व्यक्ति के आधारभूत दृष्टिकोणों, मूल्यों और आदर्शों का बहुत सीमा तक निर्माण होता है ।” अतः उसकी शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार है-

**1. शारीरिक विकास पर ध्यान**:- स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है । अतः मानसिक विकास के लिए बालक के मानसिक विकास पर पहले ही ध्यान देना चाहिए । अतः बालकों को स्वस्थ बनाने हेतु उन्हें संतुलित व पोष्टिक भोजन तथा स्वस्थ महौल उपलब्ध कराना चाहिए । विद्यालय में विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियाओं, योगा, खेल-कूद, व्यायाम आदि में भाग लेने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना चाहिए ।

2. **बल मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षा:**— वर्तमान समय में मनोविज्ञान पर आधारित बल केंद्रित शिक्षा पर जोर देना चाहिए । बालक-बालिकाएँ कठोर अनुशासन को पसंद नहीं करते हैं । अतः शारीरिक दण्ड बल प्रयोग, डाँट-डपट आदि से वे घृणा करते हैं । अतः इस अवस्था में बालकों के लिए सहयोग, स्नेह, प्रेम एवं सहानुभूति पर आधारित शिक्षा की व्यवस्था करना चाहिए ।
3. **खेल तथा क्रिया द्वारा शिक्षा:**— बाल्यावस्था में बालकों की सहज प्रवृत्तियों खेल तथा क्रियाशीलता है । अतः शिक्षा मनोविज्ञान भी बालकों की शिक्षा में खेल तथा क्रियाशीलता को महत्त्व देते हैं । खेल तथा क्रिया द्वारा बालक सरलता, सहजता, उत्साह तथा प्रसन्नता से नवोन बातों को सीख लेते हैं । अतः बालकों की शिक्षा को स्वरूप होना चाहिए कि वे स्वाभाविक क्रियाशीलता तथा खेल द्वारा नवीन ज्ञान का अर्जन कर सकें ।
4. **भाषा विकास:**— बाल्यावस्था में भाषा विकास पर अत्यधिक ध्यान देना अति आवश्यक है । इस अवस्था में सीखी गई भाषा में परिवर्तन करना आसान काम नहीं होता है। अतः सही भाषा को सिखाया जाए तो वह जीवन पर्यन्त उसके लिए सहायक सिद्ध होगी । इसके लिए वार्तालाप, विचार-विमर्श, वाद-विवाद, पत्र-पत्रिकाएँ, पढ़ना, भाषण देना, कविता पढ़ना आदि पर विशेष ध्यान देकर बालक के भाषा विकास में वृद्धि की जा सकती है ।
5. **रोचक पाठ्य सामग्री:**— बालकों की पाठ्य सामग्री उनकी आवश्यकताओं एवं रुचियों के अनुसार होनी चाहिए । बालकों की विविधताओं को ध्यान में रखकर उसकी पुस्तकों की विषय सामग्री में रोचकता और भिन्नता होना अति आवश्यक है । इस दृष्टिकोण से विषय सामग्री का संबंध इस प्रकार होना चाहिए जैसे— पशु हास्य, विनोद (मजा), नाटक, वार्तालाप, वीर पुरुष, साहसी कार्य, ड्रॉविंग और अन्य आश्चर्यजनक बातें इत्यादि ।
6. **शिक्षण विधि:**— इस अवस्था में बालक के रुचियों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है । बालकों की रुचि के अनुसार पढ़ाते समय उचित शिक्षण विधि का प्रयोग करना चाहिए । इसके लिए खेल-खेल विधि, आगमन, निगमन, विश्लेषण, संश्लेषण, प्रयोगदर्शन, क्रिया विधि आदि का प्रयोग किया जा सकता है । यदि शिक्षण विधि में

बालकों के रुचियों के अनुसार परिवर्तन नहीं करने से उसमें शिक्षण के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता है । फलस्वरूप उसकी मानसिक प्रगति रूक जाती है ।

7. **उपयुक्त विषयों का चुनाव:-** बालक के लिए कुछ ऐसे विषयों का अध्ययन आवश्यक है जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सके और उसके लिए लाभप्रद हो और उसके लिए विषयों का चुनाव इस प्रकार होना चाहिए जैसे- भाषा, अंक गणित, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, ड्रॉइंग, सुलेख, पत्र लेखन और निबंध रखना इत्यादि ।
8. **प्रेम पूर्ण व्यवहार:-** शिक्षकों का व्यवहार बालकों के साथ प्रेमपूर्ण एवं प्रोत्साहन करने वाला होता है । शिक्षकों को यह आवश्यक है कि बच्चों के साथ संबंध प्रेमपूर्ण होना चाहिए न कि भय और दण्ड नहीं होना चाहिए ।
9. **जिज्ञासा की संतुष्टि:-** बाल्यावस्था में बालक की जिज्ञासा सतही न रहकर विस्तृत और गहन जानकारी वाली होती है । अतः उसकी जिज्ञासा पूर्ति के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए । जैसे- पुस्तकालय, इंटरनेट आदि द्वारा कई जिज्ञासाओं की पूर्ति की जा सकती है ।
10. **सामूहिक कार्यक्रमों की रचना:-** इस अवस्था में बालक में समूह में रहने की प्रबल प्रवृत्ति होती है । बालक अन्य बालकों से मिलना-जुलना और उनके साथ कार्य करना एवं खेलना चाहता है । बालकों की रुचि इस अवस्था में समूह के साथ रहने की होती है । इस सब बातों का अवसर देने के लिए विद्यालय में सामूहिक कार्यों, सामूहिक खेल, सेमिनार, भ्रमण, पर्यटन, शैक्षिक मेले आदि के शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए ।
11. **सृजनात्मक कार्यों की व्यवस्था:-** बालक की रचनात्मक कार्यों में विशेष रुचि होती है । अतः विद्यालयों में बालक की सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए मिट्टी, लकड़ी, कागज आदि संबंधी वस्तुओं के निर्माण की व्यवस्था साहित्यिक एवं कार्यक्रमों के आयोजन, विज्ञान मेले आदि का आयोजन करना चाहिए ।

**12. सामाजिक गुणों का विकास:**— विद्यालय के पर्यावरण में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। जिसे बालकों में अनुशासन, आत्म नियंत्रण, उत्तरदायित्व, सहानुभूति, आज्ञापालन, प्रतिस्पर्धा, सहयोग जैसे सामाजिक गुणों का अधिकतम विकास हो सके ।

**13. नैतिक शिक्षा:**— बाल्यावस्था में बालक अपने अभिभावकों, माता-पिता, शिक्षकों एवं अन्य संपर्क में आने वाले व्यक्तियों से अनुकरण द्वारा सीखता है । इन सभी का व्यवहार सामाजिक मान्यताओं, नियमों के अनुरूप होना चाहिए ताकि बालक में भी इनके अनुसार व्यवहार करने की आदत बने। साथ ही विद्यालय में धार्मिक एवं महान व्यक्तियों की जीवनियों को पढ़ने के लिए बालकों को प्रेरित कर उनमें नैतिक गुणों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है ।

**14. मानसिक योग्यताओं का विकास:**— घर तथा विद्यालय में प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, तर्क, चिंतन, कल्पना, समस्या-समाधान जैसे योग्यताओं के विकास के लिए उचित एवं पर्याप्त वातावरण बालकों को देना चाहिए ।

अतः यह कहना उचित होगा कि बाल्यावस्था में जो कुछ भी बालक द्वारा सीखा जाता है वह जीवन भर के लिए स्थायी होता है और उसमें बहुत कम परिवर्तन किया जा सकता है । अतः शिक्षा की दृष्टि से यह शिक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है । **ब्लेयर एवं जॉन्स** ने ठीक ही कहा है – “बाल्यावस्था वह अवस्था जिसमें व्यक्ति के आधारभूत दृष्टिकोणों, मूल्यों और आदेशों को बहुत बड़ी सीमा तक निर्माण किया जाता है ।



## किशोरावस्था (Adolescence)

किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन काल के नाम से जाना जाता है (ऑधी-तूफान) ।

मानव जीवन के विकास की प्रक्रिया में किशोरावस्था का महत्वपूर्ण और कठिन काल है । किशोरावस्था वह काल है जिसमें किशोर अपने को वयस्क समझता है और वयस्क उसे बालक समझते हैं । बाल्यावस्था समाप्त होते ही बालक किशोरावस्था में प्रवेश करता है । यह अवस्था युवा अवस्था अथवा परिपक्वता अवस्था तक रहती है । यह सतत प्रक्रिया है । इसे बाल्यावस्था तथा प्रौढ़ावस्था के मध्य का संधि काल कहते हैं । इस अवस्था में बालक स्वयं को बड़ा समझता है और बड़े उसे छोटा समझते हैं । लेकिन **क्रॉ व क्रा** ने कहा है, “**किशोर ही वर्तमान की शक्ति और भावी आशा को प्रस्तुत करता है ।**” इस अवस्था को तूफान एवं संवेगों की अवस्था कहा गया है । **हेड्रॉ कमिटी** के रिपोर्ट के अनुसार 11-12 वर्ष की आयु में बालक की नशों में ज्वार उठना आरम्भ होता है । इसे किशोरावस्था के नाम से पुकारा जाता है । यदि इस ज्वार का बाढ़ के समय ही उपयोग कर लिया जाय एवं इसकी शक्ति एवं धारा के साथ नई यात्रा आरम्भ की जाए तो सफलता प्राप्त की जा सकती है ।

### परिभाषा

**जरशील्ड** – “ किशोरावस्था वह समय है जिसमें विचारशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वता की ओर संक्रमण करता है ।”

**स्टेनले हॉल** – “ किशोरावस्था बड़े संघर्ष, तनाव, तूफान तथा विरोध की अवस्था है ।”

**ब्लेवर एवं जोन्स** – “ किशोरावस्था प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वह काल है, जो बाल्यावस्था के अन्त में आरम्भ होता है और प्रौढ़ावस्था के आरम्भ में समाप्त होता है ।”

**ई.ए.किर्कपैट्रिक** – “इस बात पर कोई मतभेद नहीं हो सकता है कि किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन काल है ।”

किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन काल है । इस अवस्था को स्टेनले हॉल ने कहा है । किशोरावस्था बड़े संघर्ष, तनाव, विरोध, तुफान की अवस्था है । ई.ए. किर्क पैट्रिक ने कहा है कि किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन काल है। इस कथन की पुष्टि में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

- इस अवस्था में अपराधी प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा तक पहुँच जाती है और नशीली वस्तुओं का प्रयोग आरम्भ हो जाता है ।
- इस अवस्था में समायोजन ना कर सकने के कारण मृत्यु दर और मानसिक रोगों की संख्या अन्य रोगों की तुलना में अधिक होती है ।
- इस अवस्था में किशोर के आवेगों और संवेगों में इतनी परिवर्तनशीलता होती है कि वह प्रायः विरोधी व्यवहार करता है । जिससे उसे समझना कठिन हो जाता है ।
- इस अवस्था में किशोर अपने मूल्यों, आदर्शों और संवेगों में संघर्ष का अनुभव करता है । जिसके फलस्वरूप वह अपने को दुविधा पूर्ण स्थिति में पाता है ।
- इस अवस्था में किशोर, बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था दोनों अवस्थाओं में रहता है । अतः उसे न तो बालक समझा जाता है और न प्रौढ़ ।
- इस अवस्था में किशोर का शारीरिक विकास इतनी तीव्र गति से होता है कि उनमें क्रोध, घृणा, चिड़चिड़ापन, उदासीनता आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाता है ।
- इस अवस्था में किशोर का पारिवारिक जीवन कष्टमय होता है । क्योंकि स्वतंत्रता का इच्छुक होने पर भी उसे स्वतंत्रता नहीं मिलती है और उससे बड़ों की आज्ञा मानने की अपेक्षा की जाती है ।
- इस अवस्था में किशोर के संवेगों, रुचियों, भावनाओं, दृष्टिकोणों आदि इतनी अधिक परिवर्तनशीलता और अस्थिरता होती है जितनी उसमें पहले कभी नहीं थी ।
- इस अवस्था में किशोर में अनेक अप्रिय बातें होती हैं जैसे— उदण्डता, कठोरता, आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति, पशुओं के प्रति निष्ठुरता, गंदगी और अव्यवस्था के आदतें, कल्पना और दिवास्वपनों में विचरण ।
- इस अवस्था में किशोर को अनेक जटील समस्याओं का सामना करना पड़ता है । जैसे— अपने आयु के बालकों और बालिकाओं से नये संबंध स्थापित करना । माता—पिता के नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्र जीवन को स्थापित करना, योग्य नागरिक बनने के लिए उचित कुशलताओं को प्राप्त करना, जीवन के प्रति निश्चित दृष्टिकोण को स्थापित करना, विवाह, पारिवारिक जीवन और भव्य व्यवसाय के लिए तैयार करना ।

## किशोरावस्था की मुख्य विशेषताएँ

किशोरावस्था को दबाव, तनाव एवं तूफान की अवस्था माना जाता है । इस अवस्था की विशेषताओं को एक शब्द 'परिवर्तन' में व्यक्त किया जा सकता है । किर्क पैट्रिक ने कहा है कि किशोरावस्था जीवन का सबसे कठिन काल है । बिग व हन्ट के शब्दों में, " किशोरावस्था की विशेषताओं को सर्वोत्तम रूप में व्यक्त करने वाला एक शब्द है – परिवर्तन ।

परिवर्तन – शारीरिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक होता है । किशोरावस्था में बालक-बालिकाओं में उनके शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक और सामाजिक विकास की दृष्टि से निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

- 1. शारीरिक विकास:**— किशोरावस्था को शारीरिक विकास का सर्वश्रेष्ठ काल माना जाता है । इस काल में किशोर के शरीर में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं । जैसे— भार और लम्बाई में तीव्रता, तीव्र वृद्धि, माँस पेशियों और शारीरिक ढाँचे में दृढ़ता, किशोर में दाढ़ी और मूछ रूमालियों एवं किशोरियों में प्रथम मासिक श्रव के दर्शन । इस अवस्था में किशोर-किशोरी के पूर्ण अंग विकसित हो जाते हैं और काम की मूल प्रवृत्तियों का विकास होने लगता है । शारीरिक परिवर्तन के कारण उनमें विचित्र प्रकार के हलचल पैदा हो जाती है । उनका झुकाव विषम लिंग की ओर बढ़ता है । शारीरिक परिवर्तन की गति परिवर्तन होने की गति से उनका प्रभाव मानसिक विकास पर भी पड़ता है ।
- 2. मानसिक विकास:**— इस अवस्था में किशोर-किशोरिया के मस्तिष्क का लगभग सभी दिशाओं में विकास होता है । उनमें शब्द भण्डार अधिक बढ़ जाता है और चिंतन, ध्यान, तर्क, कल्पना शक्ति के साथ बालक-बालिकाओं की वाक पटुता, भाषण कला, भाषा ज्ञान, विश्लेषण, संश्लेषण, स्मरण, अमूर्त चिंतन और समस्या समाधान आदि योग्यताओं का विकास हो जाता है । उनमें रचनात्मक एवं सृजनात्मक योग्यता का भी विकास होने लगता है । इस अवस्था में किशोर-किशोरियों की रुचि में भी तीव्र विकास होता है ।

3. घनिष्ठ व व्यक्तिगत मित्रता:- किसी समूह का सदस्य होते हुए भी किशोर-किशोरियाँ केवल एक या दो बालक या बालिकाओं से घनिष्ठ संबंध रखता है जो उनके परम मित्र होते हैं । जिनसे वह अपनी समस्याओं के बारे में स्पष्ट रूप से बात करता है । **वेलेन्टाइन** का कथन है, “**घनिष्ठ व व्यक्तिगत मित्रता उत्तर-किशोरावस्था की विशेषता है ।**”
4. व्यवहार में विभिन्नता:- किशोर में आवेगों और संवेगों की बहुत अधिक प्रबलता होती है । यही कारण है कि वह विभिन्न अवसरों पर विभिन्न प्रकार का व्यवहार करता है । उदाहरण- किसी एक समय वह अत्यधिक क्रियाशील होता है और किसी समय अत्यधिक काहिल । किसी परिस्थिति में साधारण रूप में उत्साहपूर्ण और किसी में उत्साहहीन ।
5. समायोजन का अभाव:- रोस ने किशोरावस्था को शैशवावस्था का पुनरावर्तन कहा है क्योंकि किशोर बहुत कुछ शिशु के समान होता है । उसकी बाल्यावस्था की स्थिरता समाप्त हो जाती है और एक बार फिर शिशु के समान अस्थिर हो जाता है वह शिशु के समान अन्य व्यक्तियों और अपने वातावरण से समायोजन नहीं कर पाता है ।
6. स्वतंत्रता व विद्रोह की भावना:- किशोर-किशोरियों में शारीरिक और मानसिक स्वतंत्रता की प्रबल भावना होती है । वह बड़ों के आदेशों, विभिन्न परंपराओं, रीति-रिवाजों आर अंधविश्वासों के विश्वासों में न बंधकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहता है । अतः उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध लगाया जाता है तो वह विद्रोह की ज्वाला फूट पड़ती है । **कोलेसीक** ने कहा है, – “**किशोर, प्रौढ़ को अपने मार्ग में बाधा समझता है, जो उसे अपनी स्वतंत्रता का लक्ष्य प्राप्त करने से रोकते हैं ।**”
7. काम शक्ति की परिपक्वता:- कार्मेन्द्रियों की परिपक्वता और काम शक्ति का विकास किशोरावस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है । इस अवस्था के पूर्वकाल में बालको और बालिकाओं में समान लिंगों के प्रति आकर्षण होता है ।



इस अवस्था के उत्तरकाल में यह आकर्षण विषम लिंगों के प्रति प्रबल रुचि का रूप धारण कर लेता है । किशोर— किशोरियाँ एक साथ रहने का आनन्द लेते हैं ।

8. रुचियों में परिवर्तन/स्थिरता:- 15 वर्ष की आयु तक किशोर— किशोरियों की रुचियों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है । पर उसके बाद उनकी रुचियों में स्थिरता आ जाती है । वेलेन्टाइन के अनुसार, “किशोर—किशोरियों की रुचियों में समानता भी होती है और विभिन्नता भी ।” उदाहरण— बालक व बालिकाओं में रुचियाँ निम्न प्रकार हैं – शारीरिक स्वास्थ्य, प्रदर्शन, आकर्षक व्यक्तित्व, पौष्टिक भोजन, वेशभूषा, पढ़ाई—लिखाई, पत्र—पत्रिकाएँ, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, सिनेमा, रेडियो, शरीर को अलंकृत करना, टी.वी., कम्प्यूटर, इंटरनेट, विषम लिंगी से प्रेम करना इत्यादि ।

9. भविष्य की चिंता:- स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर के कारण ये किशोर—किशोरियाँ अपने भविष्य के प्रति सदैव चिंतित रहते हैं । इनकी चिन्ता के प्रमुख क्षेत्र होते हैं—

- परीक्षा के अच्छे अंक प्राप्त करना ।
- अच्छे व्यवसाय का चयन करना ।
- धनोपार्जन के उत्तम साधन प्राप्त करना ।
- अच्छे जीवन साथी का चयन ।
- अच्छे सामाजिक स्थिति का चयन ।

10. आदतों का विकास:- इस अवस्था में किशोर—किशोरियों में अच्छी एवं बुरी दोनों प्रकार की आदतों का विकास होता है । पर्यावरण एवं साथी अच्छे मिलने पर अच्छी आदतें विकसित होती हैं एवं प्रतिकूल वातावरण एवं खराब संगती के कारण उनमें चोरी, डकैती, अश्लीलता, शराब, बुलू फिल्म देखना जैसे बुरी आदतों का विकास हो जाता है । कुछ किशोर—किशोरियों की आकांक्षाओं की पूर्ति न होने पर उनमें अपराधवृत्ति भी पनपने लगती है । और समय रहते यदि उन्हें नहीं सुधारा जाए तो वे आगे चलकर घातक सिद्ध हो सकती हैं ।

11. समूह का महत्त्व:- इस अवस्था में किशोर—किशोरियाँ समूह में ही अधिक समय व्यतीत करना पसंद करते हैं और समूह को ही अधिक महत्त्व देते हैं । समूह के

प्रतिमानों के अनुकरण करने में अपना गर्व समझते हैं । यदि उनके माता-पिता और समूह के दृष्टिकोण में अन्तर होता है तो वे समूह के दृष्टिकोणों को ही श्रेष्ठ समझते हैं । और उन्हीं के अनुसार अपने व्यवहार, रुचियों आदि में परिवर्तन करता है ।

**12. जीवन दर्शन का निर्माण:**— किशोरावस्था से पूर्व बालक अच्छी और बुरी, सत्य और असत्य, नैतिक और अनैतिक बातों के बारे में नाना प्रकार के प्रश्न पूछता है । किशोर होने पर वह स्वयं इन बातों पर विचार करने लगता है और फलस्वरूप अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता है । वह ऐसे सिद्धांतों का निर्माण करना चाहता है जिनकी सहायता से वह अपने जीवन में कुछ बातों का निर्णय कर सके । इस कार्य में सहायता देने के उद्देश्य से आधुनिक युग में युवा आंदोलनों का संगठन किया जाता है ।

**13. वीर-पूजा:**— किशोरों में वीर पूजा की भावना विकसित हो जाती है । इस अवस्था में किशोर-किशोरियाँ अपना आदर्श वीर एवं साहसी पुरुषों को बनाते हैं और उनके आदर्शों पर चलना आरम्भ कर देते हैं । उन्हीं के अनुरूप वस्त्र पहनना, बाल बनाना, उन्हीं की तरह बोलना, चलना, खाना और कार्य करना पसंद करते हैं । कॉलेज में किशोरों के आदर्श पुरुष कोई अध्यापक या अध्यापिका भी हो सकते हैं । कभी-कभी इस वीर पूजा की परिनीति प्रेम के रूप में देखी जा सकती है । इसलिए प्रारम्भ से ही किशोर-किशोरियों को धार्मिक एवं ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियों से परिचित आदर्शों के अनुरूप वीर पुरुषों को आदर्श बनाया जा सके ।

### **किशोरावस्था में शिक्षा का स्वरूप**

किशोरावस्था परिवर्तन की अवस्था है । किशोर बालक-बालिकाओं के शारीरिक, मानसिक एवं संवेगात्मक विकास की गति इतनी तीव्र होती है कि वह किशोर के मन मस्तिष्क को झंझोर देती है । उनके मन मस्तिष्क में क्रांतिकारी परिवर्तन होने लगते हैं । समायोजन के लिए संघर्ष करता नजर आता है और संवेगों की तीव्रता से उसके व्यवहार में विरोधाभासी बातें नजर आने लगती हैं । किशोरावस्था जीवन का अत्यंत कठिन और नाजुक

अवस्था है । अतः इस अवस्था के बालक-बालिकाओं को उचित परिवेश, उचित शिक्षा की व्यवस्था होना आवश्यक है ।

### शिक्षा के उद्देश्य

किशोरावस्था के विद्यार्थियों के शिक्षा के लिए निम्न उद्देश्यों की पूर्ति आवश्यकता होती है।

- a. शारीरिक विकास में सहायता प्रदान करना ।
- b. मानसिक विकास में सहायता करना ।
- c. उचित संवेगों के निर्माण में सहायता करना ।
- d. सामाजिक विकास में सहायता प्रदान करना ।
- e. मूल्यों के निर्माण एवं नैतिकता के विकास में सहायता प्रदान करना ।
- f. योग्यताओं एवं क्षमताओं का निर्माण करना ।
- g. क्षमताओं एवं योग्यताओं के अनुसार व्यवसायिक शिक्षा देना ।
- h. समाज सेवा एवं राष्ट्र सेवा की भावना विकसित करना ।

शिक्षा के पाठ्यक्रमः— उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शिक्षा के पाठ्यक्रम की आवश्यकता होती है। किशोरावस्था के विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए पाठ्यक्रम में शरीर विज्ञान, खेल-कूद, व्यायाम, भाषा, साहित्य, विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, गणित एवं क्रियाकेन्द्रित अभ्यास की व्यवस्था, कला, संगीत, समाजसेवा, भूगोल, इतिहास आदि कार्यक्रमों की व्यवस्था, सामूहिक गतिविधियों की व्यवस्था, नैतिक शिक्षण, धार्मिक साहित्य एवं इतिहास के पठन की व्यवस्था आदि को सम्मिलित किया जाना चाहिए ।

शिक्षण विधियाँः— शिक्षा की पाठ्यचर्या का अभ्यास कराने के लिए उचित शिक्षण विधियों का चयन किया जाना चाहिए । जैसे— आगमन-निगमन विधि, विश्लेषण-संश्लेषण विधि, समस्या-समाधान विधि, प्रायोगिक विधि, प्रोजेक्ट विधि एवं अनुसंधान विधि आदि का प्रयोग करना चाहिए । किशोर-किशोरियों के शिक्षा देने के लिए परम्परागत विधियों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए । इसके संबंध में रॉस का मत है कि **विषयों का शिक्षण व्यावहारिक ढंग से किया जाना चाहिए और उनका दैनिक जीवन की बातों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित किया जाना चाहिए ।**

**मानसिक विकास के लिए शिक्षा:**— किशोरावस्था विद्यार्थियों में तर्क शक्ति, स्मरण तथा कल्पना शक्ति के विकास के लिए विशेष व्यवस्था करनी चाहिए । किशोर की मानसिक शक्ति एवं अधिकतम विकास के लिए शिक्षा का स्वरूप उसकी रुचियों, रुझानों, दृष्टिकोणों और योग्यताओं के अनुरूप होना चाहिए । अतः उसकी शिक्षा में निम्नलिखित बातों को ध्यान दिया जाना चाहिए, जैसे— कला, विज्ञान, साहित्य, भूगोल, इतिहास आदि सामान्य विद्यालय विषय किशोर की जिज्ञासा को संतुष्ट करने और उसकी निरीक्षण शक्ति को प्रशिक्षित करने के लिए प्रकृतिक, ऐतिहासिक स्थानों का भ्रमण । उसकी रुचियों एवं कल्पनाओं और विविध स्वप्नों को साकार करने के लिए पर्यटन, वाद-विवाद, पत्रालेखन, साहित्यिक गोष्ठी आदि पाठ्यक्रम, सहभागी क्रियाएँ ।

**संवेगात्मक विकास के लिए शिक्षा:**— किशोरावस्था विद्यार्थियों के संवेगों में तीव्रता होती है । किशोर अनेक प्रकार के संवेगों से संघर्ष करता है । इन संवेगों में से कुछ उत्तम एवं कुछ निकृष्ट होते हैं । शिक्षा में दस प्रकार के विषयों, पाठ्यक्रम सहभागी क्रियाओं को स्थान दिया जाना चाहिए जो निकृष्ट संवेगों का दमन और उत्तम संवेगों का विकास करें ।

**सामाजिक संबंधों/सामाजिक विकास के लिए शिक्षा:**— किशोरावस्था विद्यार्थियों के सामाजिक विकास के लिए सामूहिक गतिविधियों, खेल, स्कॉटिम, एन.एस.एस., मेले, भ्रमण आदि का आयोजन किया जाना चाहिए । साथ ही नैतिक विकास के लिए अध्यापकों का आदर्शवाचन, व्यवहार, धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक पुस्तकों के अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए । क्योंकि किशोर अपने आचार-विचार, व्यवहार की अनेक बातें सीखता है ।

**व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अनुसार शिक्षा:**— प्रत्येक किशोर की अवस्था उपयोगिता अलग होती है । उनकी रुचियों, अभिवृत्तियों में भिन्नता होती है । विद्यालयों में भिन्न-भिन्न रुचियों, आवश्यकताओं एवं उपयोगिताओं के अनुरूप शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन की व्यवस्था होनी चाहिए । इस बात पर बल देते हुए माध्यमिक शिक्षा आयोग ने लिखा है — हमारे माध्यमिक विद्यालयों को छात्रों की विभिन्न विधियों, प्रवृत्तियों, रुचियों, योग्यताओं को पूर्ण करने के लिए विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए ।

**पूर्व व्यावसायिक शिक्षा:**— किशोर अपने भावी जीवन में किसी न किसी व्यवसाय में प्रवेश करने की योजना बनाता है । पर वह यह नहीं जानता है कि कौन सा व्यवसाय उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा । उसे इस बात का ज्ञान प्रदान करने के लिए विद्यालय में कुछ व्यवसायों की प्रारम्भिक शिक्षा दी जानी चाहिए । इसी बात का ध्यान रखकर हमारे देश के बहुउद्देशीय विद्यालय में व्यावसायिक विषयों की शिक्षा की व्यवस्था की गई है ।

**जीवन दर्शन की शिक्षा:**— किशोर अपने जीवन दर्शन का निर्माण करना चाहता है पर उचित पथ—प्रदर्शन के अभाव में वह ऐसा करने में असमर्थ रहता है । इस कार्य का उत्तरदायित्व विद्यालय पर है । इसका समर्थन करते हुए वलेयर ने लिखा है— किशोर को हमारे जन्मतंत्रिय दर्शन के अनुरूप जीवन के प्रति दृष्टिकोणों का विकास करने में सहायता देने का महान उत्तरदायित्व विद्यालय पर है ।

**गौण शिक्षा:**— किशोर बालक एवं बालिकाओं की अधिकांश समस्याओं का संबंध उनकी काम प्रवृत्ति से होता है । विद्यालय में यौन शिक्षा की व्यवस्था होना अति आवश्यक है । किशोरावस्था में काम प्रवृत्ति अधिक होने के कारण किशोर—किशोरियों में विषम लिंगी के प्रति अधिक आकर्षण बढ़ता है । यदि किशोरों को मर्यादित एवं उच्चतम यान शिक्षा दी जाये तो उसकी काम प्रवृत्ति को उचित दिशा प्रदान की जा सकती है । रॉस ने लिखा है— “यौन शिक्षा की परमशिक्षा को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है कि किशोर को एक व्यस्क द्वारा ऐसी गोपनीय शिक्षा दी जाय, जिसपर उसे पूर्ण विश्वास हो ।”

**किशोरों के प्रति व्यवहार:**— किशोर को न तो बालक समझना चाहिए और न उसके प्रति बालक का—सा व्यवहार किया जाना चाहिए । इसके विपरीत उसके प्रति व्यस्क जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए । इसका कारण बताते हुए वलैयर ने लिखा है — “जिन किशोरों के प्रति व्यस्क का—सा जितना ही अधिक व्यवहार किया जाता है उतना ही अधिक वे व्यस्कों का—सा व्यवहार करते हैं ।” माता—पिता एवं शिक्षकों को किशोर—किशोरियों से मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए । स्नेह एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से

उन्हें उनके उत्तरदायित्व के प्रति गम्भीर बनाया जा सकता है और उनमें पनपने वाले रिवाज, निराशा, अवहेलना आदि को दूर किया जा सकता है ।

**किशोर निर्देशन:**— स्किनर के शब्दों में, “किशोर को निर्णय करने के लिए कोई अनुभव नहीं होता है । अतः वह स्वयं किसी बात का निर्णय नहीं कर पाता है और चाहता है कि कोई उसे इस कार्य में निर्देशन और परामर्श दे । यह उत्तरदायित्व उसे अध्यापकों और अभिभावकों को लेना चाहिए ।

**अपराध प्रवृत्ति पर अंकुश:**— किशोर में अपराध करने की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है निराशा। इस कारण को दूर करके उसकी अपराधी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा सकता है । विद्यालय उसको अपनी उपयोगिता का अनुभव करा कर उसकी निराशा को कम कर सकता है और इस प्रकार उसकी अपराध प्रवृत्ति को कम कर सकते हैं ।



## बालक का शारीरिक विकास (Physical Development of Child)

### भूमिका

शारीरिक विकास से तात्पर्य बालकों में आयु के अनुसार शारीरिक आकार, शारीरिक अनुपात, अस्थियों, मांसपेशियों तथा तंत्रिका तंत्र में समुचित विकास होता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि बालकों में शारीरिक विकास एक समान गति से नहीं होता है। कभी यह तेजी से होता है तो कभी मंद गति से होता है। इसके साथ बालक का शरीर इसके समस्त व्यवहार के साथ-साथ विकास के अन्य सभी पक्षों को सार्थक रूप में भी प्रभावित करता है। इस प्रकार शारीरिक विकास के अन्तर्गत शरीर रचना स्नायु मंडल मांसपेशियों वृद्धि आमक तंत्र अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ प्रमुख रूप से आती हैं। शैक्षिक दृष्टि से बालक के शारीरिक विकास को अत्याधि महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

### शारीरिक विकास के विशेषताएँ

1. बालक के शरीर के विकास के साथ-साथ शरीर का आकार, भार, लम्बाई, मस्तिष्क, दाँत एवं हड्डियाँ आदि भी बढ़ते हैं।
2. शारीरिक विकास के साथ ही स्नायु तंत्र भी बढ़ता है।
3. अंतःस्रावी ग्रंथियाँ भी शारीरिक विकास के साथ वृद्धि करती हैं।
4. बालक के शरीर विकास में व्यक्ति की भिन्नता के कारण अन्तर पाया जाता है।
5. शारीरिक विकास में उत्तरोत्तर परिवर्तन होता है।

### शैशवास्था में शारीरिक विकास (0-6)

जन्म से लेकर 6 वर्ष तक की आयु होने बालक शिशु कहलाता है तथा इस अवस्था को शैशवास्था कहते हैं । शारीरिक विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । इस अवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है:—

1. तीव्र गति से विकास की अवस्था ।
2. मंद गति से विकास की अवस्था ।

शैशवास्था में होने वाले शारीरिक विकास के महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं:—

- लम्बाई अथवा आकार:—** जन्म के समय बालक की लम्बाई 20.5 ईंच और बालिका की लम्बाई 20.3 ईंच । बालक और बालिका का यह अन्तर शैशवास्था पर्यंत रहता है । उसके बाद 3 या 4 वर्षों के बाद बालिकाओं की लम्बाई बालकों से अधिक हो जाती है ।
- भार:—** नवजात शिशु का भार लगभग 6—8 पौण्ड प्रथम 6 माह में भार बढ़कर दो गुणा फिर अगले माह में 3 गुणा हो जाता है । अतः एक वर्ष से 6 वर्ष तक भार क्रमशः 8 कि.ग्राम, 12 कि.ग्राम, 14 कि.ग्राम, 15 कि.ग्राम, 16 कि.ग्राम के आस-पास हो जाता है । बालिकाओं का भार बालकों की अपेक्षा कम रहता है ।
- मस्तिष्क अथवा सिर:—** जन्म के समय शिशु की सिर की लम्बाई उसकी शरीर की कुल लम्बाई  $1/4$  होती है । प्रथम दो वर्ष में शिशु की गति अति तीव्र गति से बढ़ता है और अभिवृद्धि की गति मंद हो जाती है । जन्म के समय शिशु के मस्तिष्क का भार 350 ग्राम तक पाया जाता है । शैशवास्था में मस्तिष्क की वृद्धि सर्वाधिक होती है ।
- माँसपेशीय:—** शारीरिक विकास के साथ-साथ माँसपेशियों में भी वृद्धि होने लगती है । 6 वर्ष की आयु तक इनमें लचीलापन होता है ।



- v. **हड्डियाँ**— शरीर रचना वास्तव में हड्डियों का ढाँचा होती है । हड्डियाँ मानव के अन्य अंगों की सुरक्षा तथा शरीर को ढाँचा प्रदान करती है । हड्डियों के ढाँचे के अनुरूप की शरीर, चेहरा, हाथ-पैर तथा अन्य अंग अपना वैयक्तिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। नवजात शिशुओं में हड्डियों की संख्या 200 होती है ।
- vi. **भुजाएँ, टाँगे और अन्य अंग**— शिशु की भुजा तथा टाँगे का विकास भी तीव्र गति से होता है । प्रथम दो वर्षों में भुजाएँ दो गुणा तथा टाँगे डेढ़ गुणी हो जाती है । जन्म के समय शिशु की हृदय की धड़कने अनियमित होती हैं । प्रथम पाठ में शिशु का हृदय प्रति मिनट लगभग 140 बार धड़कता है । जबकि छः वर्ष की आयु में हृदय की धड़कन घटकर प्रति मिनट लगभग 100 हो जाती है ।
- vii. **दाँत**— जन्म के समय शिशु के दाँत नहीं होते । लगभग 6 माह के बाद से दूध के अस्थाई दाँत निकलने लगते हैं । 1 से 4 वर्ष के मध्य लगभग समस्त दूध के दाँत निकल आते हैं । 5-6 वर्ष के आस-पास ये गिरना आरंभ कर देते हैं और इनके स्थान पर नये स्थायी दाँत आने लगते हैं ।
- viii. **गामक नियंत्रण**— जन्म के कुछ समय उपरान्त से ही शिशु अपना स्नायुओं पर नियंत्रण करने का प्रयास कर देते हैं । पहले सिर क्षेत्र भाग पर, फिर धड़क्षेत्र पर सबसे अंत में अपने टाँगों पर नियंत्रण करता है । 2-3 माह में शिशु अपने नेत्रों को क्षैतिज ढंग से घुमाना सीख जाता है। शिशु अपने नेत्रों को उर्ध्वाधर ढंग से घुमाने और चौथा माह में गोलाकार ढंग से घुमाने में 5वें माह में पूरी तरह वह सफलता पा लेता है । जन्म के एक सप्ताह बाद ही शिशु मुस्कुराने की सहज क्रिया दर्शाने लगता है। एक माह का शिशु अपना सिर उठाने लगता है । 4 माह में सहारे के साथ बैठ सकता है । सातवें माह में बिना सहारे के बैठ जाता है । 10 माह में घुटनों के बल चलना सीख जाता है । 14 माह का शिशु

खड़ा हो जाता है तथा 15 माह में चलने लगता है । अतः शिशु धीरे-धीरे अपनी गामक गतिविधियों पर सफलतापूर्वक नियंत्रण करने लगता है ।

## बाल्यावस्था में शारीरिक विकास

बाल्यावस्था की अवधि 6-12 तक होती है । बाल्यावस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तन निम्न प्रकार हैं:-

- 1. लम्बाई:-** लम्बाई में वृद्धि की दृष्टि से यह काल विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माना जाता है । इस दौरान शरीर की लम्बाई 5-7 से.मो. प्रति वर्ष की गति से बढ़ती है। बाल्यावस्था के प्रारंभ में जहाँ बालकों की लम्बाई बालिकाओं की लम्बाई से लगभग 1 से.मी. अधिक होती है और इस अवधि की सामग्री पर बालिकाओं की औसत लम्बाई, बालकों के औसत लम्बाई से 1 से.मी. अधिक हो जाती है ।
- 2. भार:-** बाल्यावस्था में बालक के भार से तीव्र गति से वृद्धि होती है । 12 वर्ष की आयु तक उसका भार 80-95 पौण्ड तक हो जाता है ।
- 3. सिर तथा मस्तिष्क:-** बाल्यावस्था में सिर का विकास तो होता है किन्तु शरीर और सिर का अनुपात वयस्क के शरीर और सिर के अनुपात की समानता की ओर प्रवृत्ति होने लगती है । अर्थात् शरीर के अन्य अंगों की तुलना में सिर अपेक्षाकृत बड़ा होता है । अतः बाल्यावस्था में मस्तिष्क का आकार तथा भार दोनों ही दृष्टि से पूर्णरूप विकसित होने लगता है ।
- 4. माँसपेशियाँ:-** बाल्यावस्था में माँसपेशियों का विकास मंद गति से होता है । 8 वर्ष की आयु में माँसपेशियों का भार शरीर के कुल भार का 27 प्रतिशत होता है और 12 वर्ष में बढ़कर 33 प्रतिशत हो जाता है ।

- 5. धड़ का विकास:**— बाल्यावस्था में बालक एवं बालिकाओं के धड़ का विकास बहुत महत्त्व रखता है । इस आयु में शरीर बलिष्ठ, बुस्ट तथा शक्तिशाली होने लगता है जिसमें बालक अपने अंगों एवं शक्तियों के संचालन पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं । बालकों के कंधे चौड़े होने लगते हैं, कुल्हे पतले होने लगते हैं । इसके विपरीत बालिकाओं के कंधे, कुल्हे चौड़े होने लगती हैं ।
- 6. हड्डियाँ:**— बाल्यावस्था में हड्डियों की संख्या एवं उनकी दृढ़ता दोनों में वृद्धि होती है। बाल्यावस्था में हड्डियों की संख्या 270 से बढ़कर 350 हो जाती है । इस अवस्था के दौरान हड्डियों का दृढीकरण अथवा अस्थिकरण तेजी से होता है जिसके कारण बालकों के हड्डियों का लचीलापन समाप्त होने लगता है और उनमें कड़ापन आने लगता है ।
- 7. दाँत:**— बाल्यावस्था के प्रारंभ में बालक के दूध के दाँत गिरने लगते हैं और उसके स्थान पर स्थायी दाँत निकलने लगते हैं । बाल्यावस्था के समाप्ति तक सभी स्थायी दाँत निकल आते हैं। बालकों के अपेक्षा बालिकाओं के स्थायी दाँत पहले निकल आते हैं, दाँत चेहरे की आकृति में स्थायीत्व लाते हैं और उन्हें सुन्दर बनाते हैं ।
- 8. हाथ व पैर:**— बाल्यावस्था में बालकों के पैर लंबे और सीधे हो जाते हैं, बालिकाओं के पैर अन्दर की ओर कुछ झुकाव ले लेते हैं, भुजाएँ भी लंबी होने लगती हैं ।
- 9. यौन अंगों का विकास:**— बालकों तथा बालिकाओं दोनों के प्रजनन अंगों का विकास बाल्यावस्था में होने लगता है । बालकों में यह विकास धीमी गति से होता है किन्तु बालिकाओं में अंगों का विकास तीव्र गति से होता है ।
- 10. हृदय गति:**— शैशवावस्था की तुलना में बाल्यावस्था में हृदय के धड़कन की गति कम हो जाती है। 18 वर्ष के बालकों का हृदय प्रति मिनट 85 बार धड़कता है ।

## किशोरावस्था में शारीरिक विकास

किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तन निम्न हैं :-

- 1. लंबाई:-** इस अवस्था में बालक एवं बालिकाओं की लम्बाई बहुत तेजी से बढ़ती है। आयु अनुसार बालक-बालिकाओं में लंबाई की गति भिन्न-भिन्न होती है। 12 वर्ष की अवस्था में बालिकाओं की औसत लंबाई 139.2 से.मी. और बालकों की औसत लंबाई 138.3 से.मी. होती है। परन्तु 18 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते बालकों की औसत लम्बाई बालिकाओं की औसत लम्बाई की अपेक्षा बहुत तीव्र गति से बढ़ती है।
- 2. भार:-** इस अवस्था में बालक-बालिकाओं के भार में काफी वृद्धि होती है। 15-18 वर्ष की आयु तक बालकों का औसत भार बालिकाओं के औसत भार से अधिक होता है।
- 3. सिर तथा मस्तिष्क:-** इस अवस्था में सिर तथा मस्तिष्क का विकास शरीर की अपेक्षा मंद गति से होता है। लगभग 16 वर्ष की अवस्था तक सिर व मस्तिष्क का विकास पूर्ण रूप से हो जाता है।
- 4. हड्डियाँ:-** इस अवस्था में हड्डियों का लचीलापन समाप्त हो जाता है। हड्डियों में मजबूती और अस्थिकरण की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। कुछ छोटी-छोटी हड्डियाँ जुड़ जाती हैं। अतः हड्डियों की संख्या भी कम हो जाती है। प्रौढ़ व्यक्ति में कुल 206 हड्डियाँ होती हैं।

5. दाँत:- किशोरावस्था में प्रवेश करने के पूर्व अर्थात् 13 वर्ष की आयु तक बालक-बालिकाओं के 27-28 दाँत निकल आते हैं, शेष 4 दाँत जो प्रज्ञा दाँत कहलाते हैं वे 17-35 वर्ष की अवस्था के मध्य निकलते हैं ।

6. माँसपेशियाँ:- इस अवस्था में माँसपेशियों का विकास बहुत तेजी से होता है । 16 वर्ष की अवस्था तक माँसपेशियों का भार शरीर की कुल भार का 44 प्रतिशत होता है । हृदय की धड़कन भी 70-72 बार धड़कने लगती है ।

### शारीरिक विकास को प्रभावित करने वाले तत्त्व

किशोरावस्था में होने वाले शारीरिक विकास और गति को अनेक कारण प्रभावित करती हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है:-

1. अनुवांशिकता एवं वंशानुक्रम:- बालक के शारीरिक विकास पर उसके माता-पिता पूर्वजों तथा वंशजों के स्वस्थ्य, शारीरिक रचना, दोषों व रोगों का प्रभाव पड़ता है । प्रायः स्वस्थ माता-पिता के संतानें स्वस्थ और रोगी माता-पिता के संतानें रोगी और कमजोर होते हैं ।
2. वातावरण:- बालक के शारीरिक विकास पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । वातावरण के मुख्य तत्त्व वायु, धूप और स्वच्छता उसके शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं। स्वच्छ वातावरण में रहने वाले बालक का विकास भली प्रकार से होता है और उसमें रोग प्रतिरोधक क्षमता अधिक होती है तथा अशुद्ध वातावरण में रहने वाले बालक प्रायः बीमार व रोगग्रस्त रहते हैं । उनका शारीरिक विकास अवरूद्ध होता है, उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण हो जाती है ।
3. भोजन:- बालक के शारीरिक विकास पर भोजन का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । पौष्टिक व संतुलित भोजन करने वाला बालक का शारीरिक विकास समुचित एवं स्वभाविक तरीके से होता है । पौष्टिक भोजन की उपलब्धता आर्थिक स्तर पर भी निर्भर करता है । आर्थिक रूप से संपन्न बालक हिस्ट-पुस्ट होते हैं । निर्धन बच्चे निर्बल होते हैं । पौष्टिक भोजन के अभाव में बालक उचित शारीरिक विकास से वंचित रह जाता है ।

4. परिवार की स्थिति तथा रहन-सहन का ढंग:- परिवार की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का बालक के शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है । पारिवारिक रहन-सहन, सामाजिक परंपराएँ तथा खान-पान का प्रभाव भी उसके शारीरिक विकास पर पड़ता है ।
5. दिनचर्या:- बालक की दिनचर्या का प्रभाव उसके शारीरिक विकास पर प्रभाव पड़ता है । नियमित दिनचर्या से बालक का स्वस्थ अच्छा रहता है । अच्छे शारीरिक विकास के लिए बालक के दिनचर्या पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए । जैसे- उसके खाने-पीने, नहाने, पढ़ने, खेलने, सोने आदि दैनिक क्रियाओं का समय बालक में प्रारंभ से ही नियमित दिनचर्या की आदत डालनी चाहिए ।
6. विश्राम एवं निन्द्रा:- बालक के शारीरिक विकास के लिए पूर्ण निन्द्रा एवं विश्राम आवश्यक है । शैशवावस्था में शिशु को 12 घंटे की नींद, बाल्यावस्था में 10 घंटे की नींद तथा किशोरावस्था में 8 घंटे की नींद आवश्यक होती है । विश्राम एवं निन्द्रा शरीर की थकावट को दूर कर नई ताजगी प्रदान करती है जिसे बालक के शारीरिक विकास को महत्वपूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं ।
7. प्रेम तथा सहानुभूति:- बालक के संपूर्ण शारीरिक विकास के लिए माता-पिता परिवार जनों, अध्यापकों तथा अन्य व्यक्तियों प्रेम तथा सहानुभूति बहुत आवश्यक है जिसे बालक को नयी स्फूर्ति व उत्साह प्राप्त होते हैं । माता-पिता के स्नेह से बालक उपेक्षा ग्रस्त हो जाता है और दुःखी रहने लगता है । बालक में असुरक्षित की भावना घर कर जाती है और उसमें आत्मविश्वास समाप्त हो जाती है । अतः आवश्यक है कि माता-पिता व परिवार जनों, अध्यापकों, बालकों से स्नेह एवं प्रेम से व्यवहार रखें जिसे उसके शरीर विकास संपूर्ण रूप से हो ।
8. खेल एवं व्यायाम:- खेल तथा व्यायाम भी शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं । बालक की दिनचर्या में नियमित रूप से खेल और व्यायाम होनी चाहिए जिससे माँसपेशीय और हड्डियाँ मजबूत होती हैं । बालको को खुली हवा और मैदान में

खेलने एवं व्यायाम करने देना चाहिए । शारीरिक विकास की प्रक्रिया इसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है ।

9. **दुर्घटना:**— दुर्घटनाएँ भी बालक के शारीरिक विकास को प्रभावित करते हैं । यदि बचपन में बालक किसी दुर्घटना से प्रभावित हुआ है, जैसे— उसकी हड्डी टूट गई, जल गया हो, किसी जानवर ने काट लिया हो तो उसका शरीर प्रभावित होता है जिससे उनका विकास की गति रूक जाती है ।
10. **सुरक्षा:**— शिशु या बालक संपूर्ण विकास के लिए उसमें सुरक्षा की भावना अति आवश्यक है । इन भावना के अभाव में वह भय का अनुभव करने लगता है और आत्मविश्वास खो बैठता है जिसके कारण उसके विकास को अवरूद्ध कर देती है ।
11. **अन्य कारक:**— बालक के शारीरिक विकास को अन्य कारक भी प्रभावित करते हैं जैसे— रोग के कारण उत्पन्न विकृति, भौगोलिक परिस्थितियाँ, परिवार की निर्धनता, परिवार का रहन—सहन, दोषपूर्ण सामाजिक परंपराएँ (बाल—विवाह) आदि के कारण बालक का शारीरिक विकास प्रभावित होता है ।

उपरोक्त कारकों की विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक विकास कितना महत्वपूर्ण होता है। अतः यह आवश्यक है कि अध्यापकों एवं माता—पिता को बालक के शारीरिक विकास तथा उसको प्रभावित करने वाली कारकों के बारे में जानकारी हो, जिससे वे बालक के विकास को एक निश्चित स्वरूप एवं गति सहायक प्रदान करें ।



## संवेगात्मक विकास (Emotional Development)

बालक के संवेगात्मक विकास और व्यवहार के आधार हैं उसके संवेग, प्रेम, हर्ष, क्रोध, करुणा, दया, सहानुभूति आदि और उत्सुकता अभिनन्दनीय संवेग उसकी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास में योग देते हैं। जब कि भय, क्रोध, ईर्ष्या, स्वार्थपन, घृणा, एकाकीपन, आत्महीनता, भूख, निन्दनीय संवेग बालक के विकास को विकृत और कुठित कर देते हैं। संवेग व्यक्ति को किसी कार्य को सीखने, उसके सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक विकास को प्रभावित करता है। संवेग वास्तव में उपद्रव की अवस्था है।

### संवेग का अर्थ (Meaning of Emotion)

संवेग का शाब्दिक अर्थ है – 'वेग से युक्त' अर्थात् व्यक्ति वेगवान होकर कार्य करता है तो उसे संवेग कहते हैं। अंग्रेजी में इसे Emotion कहते हैं। Motion एक लैटिन शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति Emovere से हुई है। जिसका अर्थ है उत्तेजित करना। Emotion में E का अर्थ है 'गति'।

अतः शब्द का अर्थ है आन्तरिक भावों को बाह्य गति देना जिसका तात्पर्य यह है कि संवेग व्यक्ति के आन्तरिक भावों का बाह्य प्रकाशन या उत्तेजित अवस्था का दूसरा नाम है।

### Emotion या संवेग की परिभाषा

**वुडवर्थ:-** " संवेग व्यक्ति के गति से अथवा आवेश में आने की स्थिति है। संवेग व्यक्ति



की उत्तेजित दशा है ।

**रॉस:-** संवेग चेतना की वह अवस्था है जिसमें रागात्मक तत्वों की प्रधानता रहती है ।

**वैलेंटीन:-** जब रागात्मक प्रकृति का वेग बढ़ता जाता है तभी संवेग की उत्पत्ति होती है ।

**जरशील्ड:-** किसी भी प्रकार के आवेश आने, भड़क उठने तथा उत्तेजित हो जाने की अवस्था को संवेग कहते हैं ।

### संवेगों की विशेषताएँ

1. संवेगों की व्यापकता का गुण अधिकतर प्राणियों में पाया जाता है । मनुष्य हो या पशु पक्षी बालक हो या वृद्ध सभी में भिन्न-भिन्न प्रकार के संवेग होते हैं ।
2. संवेगों के उदय होने पर आस्थाई शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं ।  
**(क) आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन-** इसके अन्तर्गत शीघ्रता से स्वास लेना, हृदय की धड़कन बढ़ जाना, पाचन क्रिया का प्रभावित होना इत्यादि ।  
**(ख) बाह्य शारीरिक परिवर्तन-** इसके अन्तर्गत आवाज में परिवर्तन, मुख-मण्डल के प्रकाशन में अन्तर, अंग संचालन की गति में परिवर्तन इत्यादि ।
3. संवेग व्यक्तिगत होते हैं । एक समान स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के संवेग भिन्न-भिन्न होते हैं । जैसे- निर्धन व्यक्ति को भीषण ठंड में देखकर कोई व्यक्ति दया देखकर पहनने के लिए गरम कपड़ा देता है जबकि अन्य व्यक्ति उस पर हँसता है ।
4. संवेगों की प्रकृति अस्थाई होती है । संवेग थोड़ी समय तक होती है और फिर सामान्य स्थिति में आ जाते हैं । जैसे- क्रोध के अवस्था में माँ बच्चों को डाँटती है, परन्तु थोड़ी ही देर में सामान्य हो जाती है ।
5. कभी-कभी संवेग अन्य परिस्थितियों में स्थानान्तरित हो जाती है । जैसे- यदि क्रोध में व्यक्ति किसी व्यक्ति को डाँट रहा है और अन्य व्यक्ति उसे सार्थक बात करना चाहता है तो वह उस पर भी अनावश्यक क्रोध करने लगता है ।
6. संवेगों की उत्पत्ति मूल प्रवृत्तियों से होती है । जैसे- जिज्ञासा से आश्चर्य की, पलायन से भय की संग्रहण से अधिकार तथा हास से अमोद की ।

7. संवेग या तो दुःख के भाव से मुक्त होते हैं या तो सुख के भाव से मुक्त होते हैं ।  
प्रेम, स्नेह, वत्साल्य जिसमें संवेग में सुख का भाव निहित होता है और भय, घृणा, ईर्ष्या जैसे संवेग में दुःख का भाव निहित होता है ।
8. संवेग मनोवैज्ञानिक के कारण उत्पन्न होते हैं ।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि संवेग एक मानसिक दशा है जिसमें व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक व्यवहार में परिवर्तन होता है ।

## विभिन्न अवस्थाओं में संवेगिक विकास

### I. बाल्यावस्था में संवेगिक विकास:-

संवेगात्मक विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था एक अनोखी अवस्था है । इस अवस्था के संवेगात्मक विकास की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **संवेगों की उपलब्धता में कमी:-** बाल्यावस्था में संवेगों की उदारता में कमी आने लगती है क्योंकि सामाजिक करण की प्रक्रिया शुरू हो जाने के कारण बालक आवांछनीय संवेगों को दूसरों के सामने प्रकट नहीं होने देता है तथा उन संवेगों की क्षमता उत्पन्न होने लगता है ।
2. **जिज्ञासा की प्रबलता:-** बाल्यावस्था में बालक-बालिकाओं में जिज्ञासा अति प्रबल होती है । इसी प्रबल जिज्ञासा के कारण बालक जिन-जिन वस्तुओं के संपर्क में आता है उनके संबंध में क्यों तथा कैसे से संबंध प्रश्न पूछ कर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है ।
3. **ईर्ष्या की भावना:-** बाल्यावस्था में बालक-बालिकाओं में ईर्ष्या की भावना हो जाती है तथा वह किसी न किसी कारण से भाई-बहनों या किसी साथियों पर आरोप लगाते हैं तथा तिरस्कृत करते हैं ।
4. **क्रोध की अधिकता:-** बाल्यावस्था में क्रोध का संवेग प्रबल हो जाता है जिसका मुख्य कारण हताशा है । इच्छापूर्ति में बाधा पड़ने पर बालक को क्रोध आ जाता है जिनकी अभिव्यक्ति व मौन रहकर उदास होकर, अपने भाई-बहन या साथियों से झगड़ा करके एवं वस्तुओं को पटक करके करता है ।

5. **निराशा:**— बाल्यावस्था में बालक में निराशा की भावना आने लगती है । परिवार, समाज तथा विद्यालय के द्वारा बनाये गये अनुशासन संबंधी नियम बालकों के इच्छा पूर्ति में बाधक होते हैं तो इच्छाओं के पूरी न होने के कारण बालकों में निराशा की भावना आ जाती है ।
6. **भय (Fear):**— बाल्यावस्था में भी बालक का भय संवेग जागृत होता है जो शैशवावस्था से भिन्न होता है । इस अवस्था में भय का संबंध प्रायः भावी कार्यों से होता है । जैसे— परीक्षा में अच्छे अंक न प्राप्त करने का भय, गृह कार्य न करने पर स्कूल में दण्ड मिलने का भय तथा कक्षा में प्रश्न का उत्तर न देने पर अध्यापक द्वारा पिटाई का भय आदि ।
7. **उल्लास की अधीनता:**— बाल्यावस्था में बालक—बालिकाओं के संवेगात्मक विकास में उल्लास की अधिकता हो जाती है । वे अच्छे कपड़े, अच्छा खाना, खेलने की छूट, दृश्य स्थल के भ्रमण आदि के अवसर मिलने पर बालक अत्यधिक उल्लासित हो जाते हैं । इसमें उनका संवेगात्मक विकास समूचित रूप से होता है । इसी प्रकार रुचिकर खाद्य पदार्थों एवं विभिन्न प्रकार के खेल सामग्री को देखकर बालक प्रफुल्लित होता है ।
8. **स्नेह की अभिव्यक्ति:**— बाल्यावस्था में आते-आते बालक अपनी स्नेह भावना की अभिव्यक्ति उन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के प्रति करता है जिनके साथ वह रहता या जिनकी वह सहायता करना चाहता है । जिन व्यक्तियों या वस्तुओं के संपर्क से उसे सुख मिलता है उनके प्रति वह स्नेह की अभिव्यक्ति करता है ।

## II. किशोरावस्था में संवेगात्मक विकास (12-18 वर्ष)

किशोरावस्था तीव्र परिवर्तनों की अवस्था है । इस अवस्था को तूफान की अवस्था भी कहा जाता है। अतः किशोरावस्था में किशोर के व्यवहार में अनेक परिवर्तन आते हैं । किशोरावस्था की किशोरावस्था में होने वाले संवेगात्मक विकास प्रमुख निम्न हैं—

1. **भावों की प्रधानता:**— किशोरावस्था में किशोर—किशोरियों का जीवन अत्यधिक भाव प्रधान हो जाता है । उनमें दया, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग आदि प्रवृत्तियाँ अधिक प्रबल होती हैं । इनकी अति भावुकता के कारण कोई भी इनकी भावनाओं को

उद्देलित कर उन्हें गुमराह कर सकता है। इस लिए अधिकांश किशोर-किशोरियाँ अपने भावनाओं पर नियंत्रण न रख पाकर भाग जाते हैं और कुमार्ग पर चलकर अपने जीवन को नष्ट कर बैठते हैं ।

2. **स्वाभिमान की भावना:**— किशोरावस्था में किशोर-किशोरियों में स्वाभिमान की भावना प्रबल हो जाती है । वे अपनी आत्म गौरव, स्वाभिमान तथा सम्मान पर किसी प्रकार का आघात सहन नहीं करना चाहते हैं । स्वाभिमान पर चोट पहुँचने पर वे घर से या विद्यालय से भाग जाना, आत्महत्या करने जैसे कदम भी उठा लेते हैं ।
3. **विरोधी मनोदशाएँ:**— किशोरों में प्रायः विरोधी मनोदशाएँ दिखाई देती है । लगभग समान परिस्थिति होने पर भी कभी ता वे अत्यधिक प्रसन्न तो कभी अत्यधिक दुःखी दिखाई देते हैं । इस प्रकार जो परिस्थिति उन्हें एक प्रकार उल्लास या खुशी से भर देती है । वही परिस्थिति एक समय दुखी कर देती है ।
4. **संवेगों में विभिन्नताएँ:**— किशोरावस्था में संवेगों में अत्यंत विविधता होती है । किशोर-किशोरियों के व्यवहार में भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न व्यवहार देखने को मिलता है । जैसे— वे कभी निराश तो कभी उल्लास/उत्साह से परिपूर्ण, कभी उत्साहित कभी अत्यंत प्रसन्न तो कभी अत्यंत दुखी, कभी अत्यधिक क्रोध तो कभी अत्यधिक सहानुभूति तो कभी अत्यधिक दयालु दिखाई देते हैं ।
5. **स्वतंत्रता एवं विद्रोह की भावना:**— किशोरावस्था में किशोर एवं किशोरियों में स्वतंत्रता एवं विद्रोह की भावना अधिक होती है । इसलिए वे अपनी माता-पिता एवं बड़ों के आदेशों, विभिन्न परंपराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों को न मानते हुए स्वतंत्र जीवन बिताना चाहते हैं । यही कारण है कि उनकी स्वतंत्रता पर जब किसी प्रकार पर रोक लगाई जाती है तो वे विद्रोही हो जाते हैं ।
6. **काम भावना की अधिकता:**— किशोरावस्था में काम भावना की तीव्रता के कारण किशोर-किशोरियों में प्रेम संवेग बढ़ जाते हैं । स्व-स्व-प्रेम, समलींग प्रेम तथा विषमलींग प्रेम के रूप में किशोर व किशोरियाँ अपनी काम प्रवृत्ति की संवेगात्मक अभिव्यक्ति करते हैं ।
7. **वीर पूजा:**— किशोरावस्था में किशोर व किशोरियों में वीर पूजा की भावना अधिक प्रवृत्त होती है । इसलिए वे कथा, कहानियों, उपन्यास, सिनेमा, एतिहासिक अथवा वास्तविक जीवन के नायक-नायिकाओं के आदर्शों से प्रभावित हो जाते हैं और

उनमें से किसी को अपना आदर्श बना लेते हैं और वे अपना आदर्शों का अनुकरण करने लगते हैं ।

8. **अपराध प्रवृत्ति का विकास:**— किशोर को न तो समझा जाता है और न प्रौढ़ जिससे वे अपने वातावरण एवं परिस्थितियों से समायोजन नहीं कर पाते । एक निराशा से ग्रसित हो जाते हैं । इसका परिणाम यह हो जाता है कि अपराधी कृतियों में लिप्त हो जाते हैं और उनका संवेगात्मक विकास रूक जाता है ।
9. **चिंचित व्यवहार:**— किशारावस्था में किशोर व किशोरियाँ अपने रंग—रूप, स्वास्थ्य, सम्मान, आर्थिक, सामाजिक कारण सदैव चिंचित रहते हैं । जिससे उनके व्यवहार में उग्रता आती है और उनका संवेगात्मक विकास प्रभावित होता है ।

## संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक

संवेगात्मक विकास को प्रभावित करने वाले कारक निम्नलिखित हैं:—

1. **वंशानुक्रम:**— व्यक्ति वंशानुक्रम के रूप में अपने माता—पिता तथा अन्य एवं शारीरिक एवं मानसिक गुण एवं योग्यताएँ प्राप्त करता है जिससे उनका संवेगात्मक विकास प्रभावित होता है ।
2. **परिवार का वातावरण:**— परिवार के वातावरण तथा सदस्यों का संवेगात्मक व्यवहार भी बालकों का संवेगात्मक विकास को प्रभावित करता है । उदा.— यदि परिवार में शांति, सुरक्षा एवं स्नेह का वातावरण है तो बालक का संतुलित ढंग से संवेगात्मक विकास होगा । इसके विपरीत यदि परिवार में कलहपूर्ण झगड़ा अत्यधिक सामाजिक तथ मौज—मस्ती का वातावरण है तो बालक अत्यधिक उग्र व संवेदनशील हो जाते हैं और उग्रता पूर्वक अपने संवेगों का प्रदर्शन करने लगते हैं । जिससे उसका संवेगात्मक विकास संतुलित हो जाता है ।
3. **स्वास्थ्य:**— बालक के स्वास्थ्य की दशा का उनकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं से घनिष्ठ संबंध हाता है । अच्छे स्वास्थ्य वाले बालकों की स्वास्थ्य की अपेक्षा बहुत बीमार रहने वाले बालकों की संवेगात्मक व्यवहार में अधिक अस्थिरता होती है । स्वास्थ्य बालकों में धनात्मक संवेग जैसे— खुशी, संतोष, प्रेम, स्नेह, सहानुभूति आदि

संवेग अधिक होते हैं । जबकि अस्वस्थ बालकों में ऋणात्मक संवेग जैसे— ईर्ष्या, द्वेष, दुःख, असंतोष, चिड़चिड़ापन, क्रोध आदि संवेग अधिक होते हैं ।

4. **बौद्धिक योग्यता:—हरलॉक के अनुसार,** मानसिक रूप से पिछड़े तथा मंदबुद्धि वाले बालकों की तुलना में प्रौढ़ बालक में भय अधिक पाया जाता है । इसके अतिरिक्त समय से पूर्व परिपक्व बालक अपने ही आयु के अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक डरते हैं क्योंकि जिन बालकों की बुद्धि सामान्य स्तर से कम होती है, उनमें संवेगात्मक अस्थिरता कम पायी जाती है । जबकि जो बालक कुशग्र बुद्धि के होते हैं उनमें संवेगात्मक अस्थिरता अधिक पायी जाती है ।
5. **थकान:—** थकान से व्यक्ति का संवेगात्मक विकास काफी हद तक प्रभावित होता है । थके हुए बालक में क्रोध, नराजगी, चिड़चिड़ापन जैसे नकारात्मक वंक्षणीय संवेग प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है ।
6. **माता—पिता या अभिभावकों का व्यवहार:—** बालकों के संवेगात्मक व्यवहार को उनके माता—पिता तथा अभिभावकों का उनके साथ होने वाला व्यवहार भी काफी प्रभावित करता है । उत्तम एवं आदर्श व्यवहार बालकों के संवेगों पर अनुकूल एवं खराब व्यवहार प्रतिकूल प्रभाव डालता है । जैसे— जो माता—पिता अपने बच्चों की उपेक्षा करते हैं उनके बालक संतुलन खो बैठते हैं और प्रेम के अभाव में ऐसे बालक छोटी—छोटी बातों से क्रोधित या भयभीत हो जाते हैं । इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक लाड़, प्यार बालकों में संवेगात्मक अस्थिरता उत्पन्न करता है ।
7. **परिवार का सामाजिक, आर्थिक स्तर:—** परिवार का सामाजिक, आर्थिक स्तर बालक के संवेगात्मक विकास को प्रभावित करता है । उच्च सामाजिक, आर्थिक स्तर के बालक में श्रेष्ठता और निम्न सामाजिक, आर्थिक स्तर के बालक में हीनता की भावना भर जाती है । निम्न वर्ग के सभी आयु के बालकों में माध्यम तथा उच्च वर्ग के बालकों की अपेक्षा अधिक डर पायी जाती है । जबकि उच्च वर्ग के बालकों में कम प्रभाव पड़ता है ।
8. **सामाजिक स्वीकृति:—** बालक के द्वारा किये गये कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त सामाजिक स्वीकृति भी उसके संवेगात्मक विकास को प्रभावित करती है । बालक अपने कार्यों की दूसरों के द्वारा प्रशंसा चाहता है । जब उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती है तब उसमें संवेगात्मक तनाव हो जाता है । जैसे— यदि बालक को अपने

सामाजिक स्वीकृति नहीं मिलती है तो उसका संवेगात्मक व्यवहार शिथिल हो जाता है ।

**9. महत्त्वकांक्षा का स्तर:-** जो बालक अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं किन्तु अनेक प्रकार के बधाईयों एवं कठिनाईयों अपने महत्त्वकांक्षाओं को पूर्ति करने में असफल होते हैं और वे संवेगात्मक अस्थिरता से पीड़ित हो जाते हैं ।

**10. बालक का जन्म क्रम:-** बालक का जन्म क्रम ही उसके संवेगात्मक विकास को बहुत अधिक प्रभावित करता है । पहला बालक के बाद बालकों के तुलना में अधिक भय की भावना रहता है क्योंकि पहला बालक के माता-पिता अति संरक्षण की अभिवृत्ति की अधीन होता है ।

**11. विद्यालय:-** विद्यालय भी बच्चों के संवेगात्मक विकास पर प्रभाव करता है । बालक विविध क्रियाओं के माध्यम से अपने संवेगों की अभिव्यक्ति करता है । जैसे- यदि अपने विद्यालय का वातावरण पाठ्यक्रम, कार्यक्रम, शिक्षक समूह आदि । बालकों के संवेगों के अनुकूल होते हैं तो आनन्द प्राप्त होता है । उसके विपरीत विद्यालय वातावरण से ताल-मेल न होने पर, परीक्षा में असफल हो जाने पर, अध्यापकों के अत्यधिक शुष्क व्यवहार आदि के कारण बालकों में अवांछित संवेग जैसे भय, डर, क्रोध, चिड़चिड़ापन, घृणा आदि उत्पन्न हो जाते हैं ।

**12. शिक्षक:-** शिक्षक भी बालक के संवेगात्मक विकास के अत्यधिक प्रभावित करता है । शिक्षक अपने शिक्षण के समय कई प्रकार के कथाओं, आत्मकथाओं और जीवनियों के प्रेरक प्रसंग, दृष्टान्त एवं उदाहरण प्रस्तुत करके उनमें उत्तम चरित्र एवं आदर्शों के व्यक्तित्व का अनुसरण करने की इच्छा पैदा करता है । जिससे छात्रों में साहसिकता, सहनशीलता, शांत प्रियता जैसे अच्छे गुण विकसित करने में सहायक होता है जिसे बालक का संतुलित विकास होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संवेगात्मक विकास को विभिन्न कारक प्रभावित करता है जिसमें बालक के संवेगात्मक विकास में शिथिलता, अस्थिरता एवं उग्रता आती है । अतः बालक का संतुलित विकास होता है ।

### संवेगात्मक विकास में शैक्षिक महत्त्व

बालक के संवेगात्मक विकास शैक्षिक महत्त्व निम्न हैं:-

1. समूचित संवेग वाले बालक शिक्षण अधिगम में विशेष रुचि रखते हैं ।
2. उचित संवेगिक विकास वाले बालकों में शिक्षा के द्वारा उत्तम आचरण एवं श्रेष्ठ आदर्शों को निर्माण होता है ।

3. संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों का समूचित विकास होता है और वे अध्ययन हेतु प्रेरित होते हैं ।
4. संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों की शैक्षिक उपलब्धि अधिक पायी जाती है ।
5. संवेगात्मक रूप से विकसित बालकों में निष्पादन क्षमता अधिक होती है ।



### **Reference Books**

- बाल मनोविज्ञान : भाई योगेन्द्रजीत
- बाल मनोविज्ञान : एस.के.मंगल
- शिक्षा मनोविज्ञान : पी.डी.पाठक
- शिक्षा मनोविज्ञान : एस.के.मंगल
- शिक्षा मनोविज्ञान : शीता चौहान
- शिक्षा मनोविज्ञान : डॉ. एस.एस.माथुर
- शिक्षा मनोविज्ञान : डॉ. अशोक सेवानी
- शिक्षा मनोविज्ञान : डॉ. रामशकल पाण्डेय
- नवीन शिक्षा मनोविज्ञान : नीता त्यागी
- अधिगमकर्त्ता का विकास एवं शिक्षण अधिगम प्रक्रिया : डॉ. के.पी.शाह
- शिक्षण एवं अधिगम का मनोविज्ञान : आर.के.मिश्र
- इंटरनेट

